

चतुर्थ अध्याय

भारतीय रंगमंच में संगीत और संवाद का अध्ययन

नाटक की सफलता की कसौटी रंगमंच है, क्योंकि रंगमंच पर ही वह सम्पूर्ण रूप में सामने आता है। वास्तव में रंगमंच नाटककार के मस्तिष्क की उपज है, जो नाटक की परिकल्पना का प्रथम सूत्रधार होता है। नाटक के सशक्त भाषा-विधान से उसे रंगमंचीय आयाम प्राप्त होता है। वार्कर के शब्दों में— “भाषा रंगमंच में—केवल शाब्दिक भाषा नहीं है। नाटककार को संवाद कार्य, रचनात्मक और क्रियात्मक शैली तथा लिये गये विचार के विशिष्ट अंश के सन्दर्भ में सोचना चाहिए, जिससे कि उसके प्रयोग द्वारा अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न किया जा सके।”¹

नाटक या नाट्य में प्रयुक्त भाषा को नाट्यभाषा कहते हैं। भरत के अनुसार नाट्य या नाटक वह है जो लोकस्वभाव को अंगादि के अभिनय की सहायता से प्रदर्शित किया जाता है।

योयम् स्वभावो लोकस्य

नानावस्थान्तरात्मकः

सोऽगद्यभिनयैर्युक्तो

नाट्यमित्यभिधीयते।’

अभिनयगुप्त के अनुसार नाट्य नटनीय नर्तन है। इससे स्पष्ट है कि भरत और अभिनवगुप्त के मतानुसार नाट्य और नृत्य में अभिनय की आवश्यकता है। दोनों की अपनी मुखोच्चारित भाषा होती है। नृत्य में गीतों की प्रमुखता रहती है तो नाटक में गद्य और पद्य की सहायता से (आधुनिक संदर्भ में) भावाभिव्यक्ति की जाती है। मूल रूप से दोनों सुंदर कला रूप हैं। नर्तक या नर्तकी नृत्य में नृत्यभाषा का इस्तेमाल करते तो नाटक में नट या नटी नाट्यभाषा से अपनी विचाराभिव्यक्ति करते हैं। इन दोनों की शारीरिक भाषा लगभग एक ही है यद्यपि नृत्य की शरीर भाषा में संकीर्णता है। यह सुव्यक्त है कि नृत्य और नाट्य का अर्थ शास्त्र द्वारा पूर्वनिर्धारित होने से अत्याधिक संकेतित है। इस प्रकार, छोटे-मोटे भेदों के होने पर भी नृत्य और नाट्य परस्पर बहुत अधिक संबंध रखते हैं।

आचार्य भरत और अभिनवगुप्त के मतव्यों को और स्पष्ट करते हुए वेदबन्धु ‘ताण्डवलक्षण’ में नृत्य को नाट्य से अलग नहीं मानते। उन्होंने कहा कि “भरत और अभिनवगुप्त के मतानुसार नृत्य, नाट्य का एक अंग है। भरत के व्याख्याताओं ने नाट्य और नृत्य को एक ही कलारूप बताया है। भरत के व्याख्याता हर्ष ने बताया है कि रसों और भावों को व्यंजित आँखों, कपोलों, ओष्ठों और अन्य अंगों का पूर्ण या अपूर्ण अनुकरण ही नाट्य तथा नृत्य में होता है। इसलिए नाट्य एवं नृत्य को परस्पर कैसे अलग कर सकते हैं? भट्टतौत और भट्टलोलट ने भी कहा है कि नाट्य ही नृत्य है। तात्पर्य यह है कि नृत्य एक प्रकार का नाट्य ही है। यदि आचार्यों के द्वारा नाट्य और नृत्य अलग-अलग कलारूप नहीं माने जाते तो उनकी भाषा भी अलग-अलग नहीं हो सकती। अतः नाट्यभाषा के संबंध में कहते वक्त भाषा की संरचनात्मक विशेषताओं के साथ-साथ आंगिक, सात्विक आदि अभिनय को सूचित करने के लिए रचनाकारी की ओर से स्वीकृत एवं प्रयुक्त भाषेतर पद्धतियों पर भी ध्यान देना चाहिए। नाट्य रूपों नाट्य रूपों में कृतिकार के मानसिक व्यापारों, उद्देश्यों एवं विचारों को दर्शकों तथा पाठकों तक पहुँचाने का श्लाघनीय कार्य प्रमुख रूप से नाट्यभाषा के माध्यम से किया जाता है।

अन्य काव्य रूपों जैसे कविता, उपन्यास, कहानी आदि साहित्यिक विधाओं की भाषा की संरचना की तुलना में नाटक की भाषा यानी नाट्यभाषा नाटकीय परिवेश के कारण अलग रहती है। नाट्यभाषा का स्वरूप, संरचना, आकार तथा उसका महत्व अन्य विधाओं की भाषिक संरचना

पद्धति से बहुत अधिक भिन्न है। नाटक को छोड़कर अन्य सभी साहित्यिक विधायें केवल पढ़ने के लिये रची जाती है। अतः उनकी वादन शैली सीधी और सरल है। लेकिन नाटककार और नटी द्वारा मंच पर जीवन्त कार्यव्यापार के रूप में प्रस्तुत करने के उद्देश्य से संरचित वादन शैली अभिनयोन्मुख है और उसका महत्व उत्तरोत्तर बढ़ता रहा है। साधारणतया नाट्यभाषा के प्रमुख दो रूप माने जाते हैं। ये दो रूप हैं— हमारे जीवन—व्यवहार की ध्वन्याश्रित शाब्दिक भाषा और अंगाश्रित शरीर भाषा। इनके अलावा रंग—प्रकाश, ध्वनि, चित्र, रंगमंचीय वस्तुयें आदि नाट्यभाषा रूपी विशिष्ट भाषा की इकाइयाँ हैं। इन इकाइयों को मंचीय भाषा कह सकते हैं। ये तीनों—ध्वन्याश्रित शाब्दिक भाषा, अंगाश्रित शरीर भाषा तथा उपकरणाश्रित मंचीय भाषा—मिलकर नाट्यभाषा बनती है।

संगीत और भाषा का परस्पर संबंध

“संगीत और भाषा में धनिष्ठ सम्बन्ध है। भाषा संगीत को वाणी देती है। संगीत उसे अपनी लय पर तरंगित कर देता है। भाषा शब्द प्रधान है, संगीत स्वर और नाद प्रधान। भाषा साहित्य को जन्म देती है, साहित्य को संगीत मुखरित करता है। संगीत का प्राण उसका नाद है और साहित्य उसका कलेवर। नाद से वर्ण उत्पन्न होते हैं, वर्ण से पद, पद से वाक्य और वाक्य से भाषा का विकास होता है। इसी भाषा के माध्यम से मनुष्य अपनी हृदयगत भावनाओं को अभिव्यक्ति देता है। अतः मनुष्य का सम्पूर्ण व्यवहार नाद के आधीन है। कहा गया है कि—

नादेन व्यजतेव वर्णः पदम् वर्णाप्रदाद्वचः।

वचसो व्यवहारोऽयं नादाधीनमतोजगत् ॥

नाद का माध्यम श्रवण है। श्रवण के परिचयात्मक अवयव संगीत में साहित्य द्वारा प्रदत्त है। संगीत ही भाषा की जननी है। भाषा को पुष्टि प्रदान करने वाला संगीत ही है। संगीत के अभाव में भाषा की सजीवता, उसकी स्फूर्ति तथा उसकी उत्कृष्टता स्थित नहीं रह सकती। भाषा के अस्तित्व में आने से पूर्व ही मनुष्य के हृदय में मानवीय भावनाएं और अन्तर्क्षोभ वर्तमान थे। मनोविज्ञान प्रमाणित करता है कि उन भावों को जब तक प्रकट न कर दिया जाए तब तक मनुष्य चैन नहीं पा सकता। अतएव उन भावों के प्रदर्शनार्थ भाषा की उत्पत्ति के पूर्व ही कोई ध्वनि अवश्य रही होगी। आज भी ऐसी कई निरर्थक ध्वनियां, जिनसे कुछ विशेष भावों की अभिव्यक्ति होती है, प्रत्येक जाति एवं जनसमुदाय में प्रचलित हैं। वास्तव में यह स्वर ही है, जनके ऊपर यह ध्वनियां अथवा शब्द आधारित हैं। यही ध्वनियां संगीत के बीज रूप हैं।

यदि मानव की भावनाओं का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया जाए तो ज्ञात होता है कि भाषा का स्थान संगीत के बाद ही आता है। सृष्टि के निर्माण काल में मनुष्य को कोई भी ऐसी वस्तु नहीं दिखलाई दी, जो भाषा का प्रस्फुरण करती हो, लेकिन इससे विपरीत उसे हर तरफ अनेक स्वर सुनाई पड़े। जिधर भी वह जाता, उसे नाना प्रकार के स्वर सुनने को मिलते। धण्टों तन्मय होकर वह उन स्वरों को सुनता और उनका अनुकरण करता। उसने उन स्वरों को सुनकर उनका परिमार्जन किया। स्वरों के परिमार्जित रूप ने ही मानव को संगीत के स्वर और भाषा दी”²

ध्वन्याश्रित शाब्दिक भाषा

नाटक की भाषा का सहज, संप्रेषणीय होना अनिवार्य है। यह संवाद के रूप में अभिनेताओं के लिये लिखी जाती है। यह एकाधिक अभिनेताओं के बीच बातचीत या एक ही अभिनेता के आत्मालाप के रूप में हो सकती है। कभी-कभी अनेक अभिनेताओं के द्वारा 'कोरस' के रूप में प्रस्तुत होती है। इसके द्वारा अभिनेता दर्शकों के सामने जीवन की भिन्न-भिन्न झाँकियाँ प्रस्तुत करते हैं। यह प्रस्तुति निश्चित समय के अंदर दर्शकों के सामने मंच पर होती है। यद्यपि रंगालय में उपस्थित लोगों की भूमिका 'दर्शक' के रूप में एक है, फिर भी भावों की अभिव्यक्ति के लिए स्वीकृत बिम्बों और प्रतीकों को समझने की क्षमता समान नहीं रहती। अतः रचनाकार को अपने नाटक में ऐसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए जो सरलता, सहजता तथा स्वाभाविकता के कारण सभी स्तर के लोगों के लिए स्वीकार्य हो। नाटक की ध्वन्याश्रित शाब्दिक भाषा के लिए यह भी अभीष्ट और अनिवार्य है कि नाटक में और जीवन में प्रयुक्त होने वाली भाषा में अधिक अंतर न हो। गोविंद चातक जी ने बताया कि "नाटक की भाषा यथार्थ के आग्रह के कारण एक ओर वह सामान्य बोलचाल के निकट होती है, दूसरी ओर संरचित, संस्कारित होने के कारण अपने सर्जनात्मक प्रयोग में सामान्य से विशिष्ट हो जाती है।"³ भाषा में रोचकता एवं प्रसंगानुकूलता भी होनी चाहिए। साथ-ही-साथ भाषा को प्रवाहमयी भी होना चाहिए। इसमें व्यंग्य, विनोदात्मकता, चुस्ती, चुटीलापन, कहावतों और मुहावरों आदि का प्रयोग अति आवश्यक एवं अनिवार्य है। नाटक की भावस्थिति की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति के संबंध में नेमीचन्द्र जैन जी ने कहा है कि "ऐसे प्रभावपूर्ण संप्रेषण के लिए यह भी जरूरी है कि नाटक की भाषा यथासंभव पात्रानुकूल होने के साथ-साथ सुबोध और एकाग्र तो हो ही, सूक्ष्म और व्यंजनापूर्ण भी हो, जो बोली जाने पर लयों और स्वरों का अपना विशिष्ट, आकर्षक संगीत रच सके। ऐसी भाषा के बिना कोई श्रेष्ठ तथा महत्वपूर्ण नाटक लिखा जाना संभव नहीं और संसार की सभी भाषाओं के श्रेष्ठ और उल्लेखनीय नाटककार अपने-अपने ढंग से अपने लिए अपनी भाषा का ऐसा विशेष आविष्कार करते आये हैं।"⁴

संवाद योजना

संवाद योजना को कथोपकथन या बातचीत भी कहते हैं। संवाद योजना नाटक का प्रमुख तत्व है। अभिनय नाट्यशास्त्र में नाटकीय संवाद की परिभाषा इस प्रकार दी गई है— "प्रसंग, आवश्यकता तथा पद के अनुरूप भाषा में दो या दो से अधिक व्यक्तियों की परस्पर बातचीत को संवाद कहते हैं" नाटक वह विद्या है जिसमें नाटककार को अपने विचारों की प्रस्तुति के लिये पात्रों का सहारा लेना पड़ता है ये पात्र ही संवादों के माध्यम से कथावस्तु को गति प्रदान करते हैं। पर्याप्त सीमा तक रंगमंच की सफलता कथोपकथन अथवा संवादों के कुशल एवं कलापूर्ण प्रयोग पर निर्भर करती है। संवाद लिखते समय भी कुछ आवश्यक बातों का ध्यान रखकर सफल संवादों की रचना की जा सकती है। संवाद भाषा ही है। संवादों का अस्तित्व भाषा से ही है। दोनों में अंतर यह है कि संवाद वक्ता और श्रोता पर पूर्णतया आश्रित रहता है। किसी भी नाटक का पहला महत्वपूर्ण पक्ष संवाद होता है। संवाद की साहित्यिक उपलब्धि पर ही किसी नाटक की सफलता निर्भर करती है। पात्रों के बीच में जो वैयक्तिक और अन्तवैयक्तिक प्रतिक्रिया होती है, उसे नाटककार संवाद के रूप में अभिव्यक्त करता है। संवादों की रचना में नाटककार की दृष्टि पात्र, संदर्भ, परिवेश एवं परिपेक्ष्य सब पर रहती है। नाटकीय संवाद विधान की दृष्टि से बिम्ब, छन्द, लय, व्यंग्य आदि किसी भी रूप में हो सकते हैं। भाषा संवादों की मात्र वाहिका न बनकर

आधार—वस्तु का स्थान ग्रहण कर लेती है। बी. एल. होर्फ ने भाषा को नियन्त्रा कहा है। 'भाषा विचार की अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं वरन् मूर्तिकार की मिट्टी के समान है और संवाद उसके द्वारा निर्मित मूर्ति। मूर्ति के लिए एक विशेष प्रकार की मिट्टी की आवश्यकता होती है और नाटकीय संवादों के लिए विशिष्ट भाषा ही सर्जनात्मकता प्रदान कर सकती है। कलाकार मिट्टी से मूर्ति के एक—एक अंश को साँचे में ढालता है, नाटककार भाषा से संवाद को बनाता है। मिट्टी और मूर्ति उपादान और कार्य हैं ठीक भाषा और संवाद की तरह। दोनों एक होकर भी अलग हैं। अतएव सशक्त भाषा संवादों को सजीव बनाने में समर्थ होती है। संवाद के लक्षणों को भरतमुनि ने काव्य विभूषण कहा है। नाटक में संवादों का उचित प्रयोग होना चाहिए। भरत ने नाटक में स्वाभाविक और सुन्दर भाषा के प्रयोग पर अधिक बल दिया है, जिससे प्रेक्षक उसे भली—भाँति समझ सके। संवादों में बोलचाल की भाषा का प्रयोग होना चाहिए, जिससे प्रमाता वर्ग यथार्थ के निकट पहुँच सकें। संवाद के वाक्य अधिक लम्बे और शिथिल न होकर छोटे और चुस्त होने चाहिए।

भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में संवाद—तत्त्व पर गहराई से मनन किया है। संवाद में दो या दो से अधिक व्यक्ति परस्पर मिलकर किसी विशेष प्रसंग या आवश्यकता को लेकर वार्तालाप करते हैं। संवाद—योजना में पात्र—भाषा, परिस्थिति, अनुपात और संगति को भी ध्यान में रखा जाता है। संवाद के लक्षणों को भरत मुनि ने इस प्रकार बतलाया है— भूषण, अक्षर—संघात, शोभा, उदाहरण, हेतु, संशय, दृष्टांत, प्राप्ति, उपदिष्ट, विचार, अभिप्राय, विचार, दर्शन, निरुक्ति, विशेषण, मनोरथ, लेश, क्षोम, सिद्धि, पृच्छा, सारूप्य, भ्रंश, अनुनय, दाक्षिण्य, तुल्यतर्क, विपर्यय, पदोच्चय, गुणकीर्तन, माला, गुणतिपात गर्हण और प्रियवचन ये छत्तीस लक्षण हैं तथा इनका प्रयोग काव्यबंध अर्थात् रूपक काव्य रचना में करना चाहिए। इन लक्षणों को भरत ने काव्य के विभूषण कहा है। इन संवाद लक्षणों से प्रमुख बात यह स्पष्ट होती है कि भाव के अनुकूल ही संवाद—योजना होनी चाहिए। अतः भाव की प्रधानता ही संवाद की आधारशिला है।⁵

जीवन के घटनाक्रम को उपस्थित करने वाले साहित्य के अन्य स्वरूप यथा कहानी, खण्डकाव्य, महाकाव्य आदि को पढ़ने या सुनने के लिये ही सृष्टि की जाती है। इसीलिये उसे दृश्य—काव्य की संज्ञा प्रदान की गयी है। लेकिन नाटक की सृष्टि रंगमंच पर प्रदर्शन हेतु की जाती है। इसीलिये उसे दृश्य—काव्य की संज्ञा प्रदान की गयी है। रंगमंच पर किसी पात्र के प्रवेश और उसके वार्तालाप के साथ ही मूल नाटक का प्रारंभ होता है। नाटक के संवाद ही विभिन्न चरित्रों की पृथक्—पृथक् विशेषताओं का उद्घाटन करते हैं। संवादों के द्वारा ही कथावस्तु को गति मिलती है। देश—काव्य का ज्ञान प्राप्त होता है, रचना शैली का आभास होता है। संवाद द्वारा ही जीवन—दर्शन की अभिव्यक्ति होती है। नाटक की अभिनेयता भी उसकी संवाद—योजना द्वारा ही निर्धारित होती है।

नाटकीय संवाद, रंगमंच पर विभिन्न चरित्रों की भूमिका में अवतरित अभिनेताओं द्वारा बोलने हेतु रचे जाते हैं। नाटक के विभिन्न चरित्रों की निजी पृथक्—पृथक् परिस्थितियाँ, विशेषतायें, विचार होते हैं। व्यक्ति विशेष के विचार परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ परिवर्तित भी होते रहते हैं। नाटक के प्रदर्शन में संवादों के साथ अभिनय भी करता होता है। नाटकीय संवादों में इस प्रकार आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक अभिनयों के लिये भी समुचित व्यवस्था होती है।

भारतीय नाट्य-शास्त्र में संवाद-योजना पर सर्वप्रथम वाचिक अभिनय के रूप में विचार किया गया है। भरत ने इस सन्दर्भ में संवाद-योजना में मूलतः भाषा के मानक स्वरूप के उच्चारण पर बल प्रदान किया है। भाषा का यह मानक स्वरूप भावानुरूप वर्ण-विन्यास से समन्वित होना चाहिये, अर्थात् ऐसी शब्दावली का प्रयोग होना चाहिये, जो अपने ध्वनि-विन्यास के सहारे अर्थाभिव्यक्ति के पूर्व ही अभीष्ट भाव को जाग्रत कर दे। शब्दावली की संयोजना सामान्यतः व्याकरण से अनुशासित विधान में होनी चाहिये, लेकिन विशेष प्रभाव उत्पन्न करने हेतु लयात्मकता का प्रयोग आवश्यक है। नाटक काव्य है, इसीलिये उसकी संवाद योजना में काव्य-गुणों की भी प्रतिष्ठा होनी चाहिये। विभिन्न पात्रों को परस्पर वार्तालाप करते समय एक दूसरे के लिये उचित सम्बोधन का प्रयोग करना चाहिये। संवादों के उच्चारण में कण्ठ-स्वर पर भी विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है क्योंकि वह भी वांछित प्रभाव उत्पन्न करने में सहायक होता है। पृथक्-पृथक् भावों की अभिव्यक्ति पृथक्-पृथक् स्वर से होनी चाहिये।⁶

श्री सीताराम चतुर्वेदी ने नाटक के संवाद योजना के संबंध में निम्नलिखित सर्वमान्य सिद्धांतों की विवेचना की है।

- (क) संवाद स्वाभाविक और पात्र की प्रकृति के अनुकूल हो,
- (ख) संवाद यथोचित हो जितने से कथा विस्तार एवं नाटकीय चरित्रों का विकास हो सके।
- (ग) भाषा लोकबोध हो, उसमें दार्शनिक तथा पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग तथा विषयों का विवेचन न हो।
- (घ) संवादों में सुंदर उत्तर-प्रत्युत्तर की योजना हो, जिससे संवाद में सजीवता आए, मात्र विभिन्न व्यक्तियों के वक्तव्य या शास्त्रार्थ मात्र न हो।
- (ङ) संवाद लम्बे न हो और परिणाम उतना ही हो जितना परिस्थिति विशेष में अनिवार्य और स्वाभाविक हो।
- (च) संवाद निरंतर दो या तीन व्यक्तियों के बीच नहीं चलते रहना चाहिए। उसमें थोड़ी-थोड़ी देर के पश्चात् नये पात्रों के प्रवेश और पुराने पात्रों के निष्क्रमण के साथ ही उठना, बैठना, धूमना, फूल चुनना, कुछ उठाना, खाना आदि आंगिक व्यापार होते रहना चाहिए।
- (छ) संवादों में आंगिक और सात्विक अभिनय के लिए तथा मौन द्वारा भाव व्यक्त करने के लिए पर्याप्त अवकाश रहना चाहिए। तात्पर्य यह है कि संवाद वाचिक मात्र न हो।

संवादों में वक्ता और संबोधन की प्रकृति के अनुसार वाक्य की रचना करनी चाहिए, चाहे उन वाक्यों में भाव के कोई भी रूप क्यों न हों। नाटक की प्रभविष्णुता संवाद तत्व पर ही निर्भर करती है तथा संवाद तभी प्रभावोत्पादक बन सकता है जब नाटककार ऐसी कथा की रचना करे जिसमें मानसिक अन्तर्द्वन्द्व हां, बाह्य द्वंद्व हो, कथा के प्रवाह में बीच-बीच में बाधाएँ उपस्थित हों, नाटकीय परिणाम की समस्या संगत रूप से उलझती चली जा रही हो और अन्ततः इस कौतूहल के साथ उस समस्या का समाधान हो कि वह समाधान विश्वसनीय, संभव और स्वाभाविक प्रतीत हो।⁷

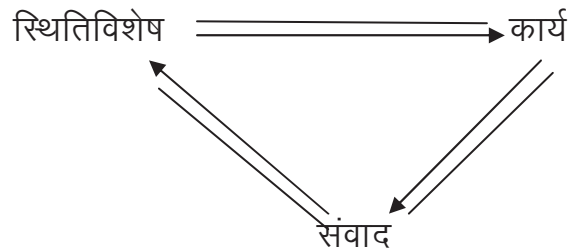
संवाद योजना के तत्वों या सिद्धांतों पर दृष्टिपात करने के पश्चात् हम यह पाते हैं कि नाट्यशास्त्र में प्रकीर्ण विभिन्न नाट्य शिल्पों की आवश्यकता संवाद तत्व की सफलता के लिए अनिवार्य हो जाती है, यथा आकाशभाषित या आकाशोक्ति। उदाहरण स्वरूप मुद्राराक्षस के द्वितीय अंक के आरंभ में आहितुण्डिक की अंकावतार वाली भूमिका को तथा तृतीय अंक में कंचुकी की

भूमिका को रखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त मालतीमाधव के तृतीय अंक में बुद्धरक्षिता की आकाशोक्ति तथा अभिज्ञान शाकुन्तल⁸ के सप्तम अंक में मातलि की आकाशोक्ति भी कथा के विस्तार के सहायक हुई हैं।

इसी प्रकार संवाद तत्व के अन्तर्गत आने वाला दूसरा नाट्य शिल्प है स्वगत या आत्मगत। इस नाट्य शिल्प का प्रयोग संस्कृत नाटककारों ने अत्यधिक किया है।

उन्होंने इतिवृत्त अथवा वस्तु को पुनः तीन भागों में विभक्त किया है। वे तीन भाग हैं— (1) सर्वश्राव्य (2) नियतश्राव्य और (3) अश्राव्य। इनमें स्वागत भाषण अनेक प्रयोजनों से प्रयुक्त होता है। नाटक के चरितों के हृदय की बात को इस संकेत द्वारा प्रकट किया जाता है जिससे वस्तु की सूत्रबद्धता भी बनी रहती है और संवाद भी प्रभावशाली हो जाता है उदाहरण स्वरूप विक्रमोर्वशीय के प्रथम अंक के राजा पुररुवा एवं उर्वशी के आत्मगत को लिया जा सकता है। अभिनय शाकुन्तल में नायिका शकुन्तला का स्वगत नारी सुलभ संकोच को अभिव्यक्त करता है।

संवादों की सहायता से नाटक का कलेवर निर्मित होता है। इसके माध्यम से ही नाटक की कथा का विकास होता है। एक दृष्टि से कथा का कथन ही संवाद के द्वारा संपन्न है। नाटक की नाटकीयता उसके संवादों से ही विकसित होती है। संवाद, नाटककार द्वारा निर्मित काल्पनिक संसार के पात्रों की बातचीत है और कम-से-कम दो पात्रों की आवश्यकता है। पात्रों के आत्मकथन भी इसके अंतर्गत आता है। नाटक के संवादों की भाषिक इकाइयों पर विचार करें तो उसमें तीनों पुरुषों की प्रधानता रहती है। इनमें से उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष बातचीत के सिलसिले में अपनी भूमिका बदलते रहते हैं। अन्य साहित्यिक विधाओं की तुलना में, जिनमें अन्य पुरुष की प्रधानता रहती है, नाटक की भाषिक इकाइयाँ भिन्न हैं। यह नाट्यभाषा की संरचनात्मक विशेषता को प्रकट करती है। नाट्य संवाद नाटक में अनेक संदर्भ पैदा करता है। यह पात्रों का बोलना मात्र नहीं है लेकिन वह कुछ ऐसे विचारणीय भाषिक तथा नाटकीय तत्वों की संरचना है जो नाटक की अभिव्यक्तिपरक प्रकार्य और शब्दों के व्याकरणिक संबंधों से उत्पन्न नाट्यार्थ सूचक तत्व है। नाटक की प्रत्येक स्थिति कार्य को उत्पन्न करती है। कार्य संवाद निर्माण के लिये उचित भूमिका तैयार करता है। इस प्रकार निर्मित संवाद पुनः नई स्थिति विशेष को जन्म देता है। अतः ये तीनों अन्योन्याश्रित एवं एक-दूसरे को उत्पन्न करने वाले भी हैं। यह निम्न आरेख से व्यक्त हो जायेगा।



इससे स्पष्ट होता है कि स्थिति और कार्य के आधार पर नाट्यभाषा की संरचना की जाती है। उसका ध्वनि संयोजन, शब्दनिर्माण, रूपगठन तथा वाक्य संरचना, नाट्यस्थिति एवं कार्य पर निर्भर है। ये दोनों नाट्य कथा पर आधारित एवं विकसित हैं। संवाद की भाषा प्रत्येक पात्र की आत्मा की भाषा भी है। इसलिए पात्र का आत्मतत्व उसमें आना स्वाभाविक है। यह आत्मप्रकाशन का सशक्त माध्यम होने के कारण पात्रों के चरित्र को भी द्योतित करता है।

इस प्रकार निर्मित लिखित-भाषा के रूप गठन का अध्ययन-विश्लेषण तथा सोच-विचार करने के लिए पाठकों के पास अवसर है। सामान्यतः लिखित भाषा संरचना संबंधी व्याकरणिक इकाइयों से तथा वाक्य संबंधी परिकल्पनाओं से युक्त रहती है, रंगमंच पर खेले जाने के कारण, पात्रों के द्वारा उच्चारित संवाद दर्शक सुना करते हैं। लिखित संवाद के उच्चारित रूप को 'वाक्' कहना समीचीन है। 'वाक्' को भाषण भी कह सकते हैं। द्विवेदी जी ने ठीक कहा है—⁹

“वागिन्द्रिय द्वारा उच्चरित और श्रवणेन्द्रिय द्वारा ग्रहीत भाषा का रूप वाक् की कोटि में आता है।”¹⁰ वाक् या भाषण-नाटक में संवाद, मात्रा, बलाधात्, सुर, संगम आदि ध्वनि गुणों से युक्त रहता है। यह केवल सुनने से ही अनुभूत होता है न कि पढ़ने से। अतः ध्वन्यात्मक शब्दिक भाषा में मौखिक एवं लिखित भाषा रूपों की सभी विशेषतायें निहित है।

संवाद नाटक का स्वरूपगत महत्वपूर्ण लक्षण है। जो नाट्य की वस्तु, पात्र अभिनय आदि को विकसित करने में अपनी भूमिका का निर्वाह करता है। नाट्य में दो अथवा अधिक पात्रों के पारस्परिक वार्तालाप को संवाद (कथोपकथन) की संज्ञा दी जाती है। भारतीय नाट्याचार्यों ने इसे नाट्यधर्म तथा नाट्योक्ति कहा है। नाट्य में पात्र के शील का परिचय उनके आचरण, सम्भाषण के द्वारा ही होता है। अतः कहा जा सकता है कि पात्रों के शील-चरित्र की विज्ञाप्ति के लिये उनके संवादों अथवा कथोपकथनों से अधिक उपयुक्त कोई साधन नहीं है। कथावस्तु का विकास तथा पात्रों के चारित्रिक निर्देशन का समवेत सम्पादन संवादों के द्वारा सहज रूप में सम्पादित हो जाता है।

संवाद : मुख्य विशेषताएं

नाटक में प्रयुक्त संवादों की सफलता के लिये विचारकों ने निम्नलिखित विशेषताओं को अनिवार्य रूप से स्वीकृत किया है—

- संवादों को पात्रों के अनुकूल होना चाहिए। विचारकों ने इसे ही संवादों की स्वाभाविकता के आधार स्वरूप स्वीकार किया है।
- संवाद अधिक लंबे नहीं होने चाहिए, केवल उतने ही हो जितने कि उस स्थिति में आवश्यक, अनिवार्य तथा स्वाभाविक कहे जा सकें।
- संवाद की भाषा में जटिलता एवं दार्शनिक विवेचना का प्रयत्न नहीं होना चाहिये। लोकरंजन भाषा ही इनके लिये श्रेष्ठ मानी गयी है।
- कथावस्तु के विस्तार एवं चरित्र विकास के अनुपात में ही संवादों की संघटना उपयोगी होती है। हम इसे संवादों का परिमाण-मापक यंत्र भी कह सकते हैं।

संवाद : बातचीत

पात्रों में पारस्परिक वार्तालाप वस्तुतः संवाद की कोटि में ही है। यह वार्तालाप दो प्रकार का हो सकता है— सामान्य बातचीत के रूप में तथा विशिष्ट कथोपकथनों अथवा उत्तर-प्रत्युत्तरों की कसावट के रूप में। अपनी विस्तृत भूमि में संवाद उक्त दोनों ही प्रकार के वार्तालापों को आत्मसात कर लेता है। संवाद शब्द अपने व्यापक अर्थ में साधारण वार्तालाप से लेकर उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप में दूर तक चलने वाली उक्तियों तक को समेट लेता है। फिर भी बातचीत एवं

संवाद में थोड़ा अंतर है। बातचीत किसी प्रसंग के भीतर ही अपना महत्व प्रदर्शित करती है। जबकि संवाद स्वतंत्र रूप से अपना महत्व ज्ञापित होने देते हैं।

संवादों की व्यापकता

संस्कृत आचार्यों ने संवादों का विवेचन नेता के संदर्भ में किया है। आधाचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में संवादों के विविध प्रारूपों का यथास्थान उल्लेख किया है। वहाँ भरतमुनि ने संवादों के चार प्रकार बताये हैं— आकाशवचन (आकाश भाषित) जनन्तिक, अपदारित तथा आत्मगत। भरत परवर्ती आचार्यों ने न्यूनाधिक रूप से इसी वर्गीकरण को स्वीकृत किया है। आकाशभाषित, सर्वश्राव्य, अश्राव्य अथवा स्वागत तथा नियतश्राव्य। पुनः नियतश्राव्य के दो भेद किये गये— जनात्तिक, तथा अपवारित।

सर्वश्राव्य—अश्राव्य

जब कथन सबके सुनने योग्य हो तो वहाँ संवाद सर्वश्राव्य है। सर्वश्राव्य कथन के लिये नाटककार प्रायः किसी रंग संकेत का निर्देशन नहीं करता, किन्तु स्वागत कथन के उपरांत सर्वश्राव्य संवाद के लिये प्रकट अथवा प्रकाश, रंग संकेत का उल्लेख अवश्य किया जाता है। जहाँ पात्र बोल रहा है तथा कोई रंग संकेत नहीं है कि 'मन में अथवा आप ही आप' है, वहाँ सर्वश्राव्य संवाद होता है। अश्राव्य का प्रयोग प्रायः स्वगत कथन तथा एकान्त भाषण के रूप में उपलब्ध होता है।

स्वगत कथन

जब पात्र मंच पर अन्यान्य पात्रों की उपस्थिति में भी अपने हृदयस्थ विचारों की गोपनीयता को प्रगट करता है, जिसे अन्य पात्र न सुन सकें; उस कथन को स्वगत कथन कहा जाता है। स्वगत कथन के लिये नाटककार द्वारा रंग—संकेत का निर्देश स्वतः, स्वयं, मन में आप ही आप अवश्य रहता है। पात्र दर्शकों की ओर होकर ऊपर अथवा नीचे की ओर मुख करके कुछ कहता है। इससे प्रेक्षक जान लेता है कि यह स्वगत है। पात्र इस अंश को धीरे—धीरे धीमे स्वर में बोलता भी है। नाटक की कथा में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है जहाँ कोई पात्र चिन्तामग्न है, ऐसी स्थिति में पात्र की मुद्रा मूक होगी। परंतु रंगमंच पर मौन पात्र के साथ दर्शक किसी भी प्रकार तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाते। अतः नाटककार उसके मुख से ही कहलवा देता है, जो स्वगत कथन कहलाते हैं।

कथागति प्रेरक संवाद संवाद नाटक की गतिशीलता का आधार है पात्रों के पारस्परिक वार्तालाप से क्या निरन्तर विकसित होती है। विभिन्न पात्रों की बातचीत द्वारा अनेक प्रसंग सामने आते हैं। नाटक के प्रायः सभी संवाद गति प्रदान करने वाले होते हैं।

सूचक संवाद नाटक में कुछ धटनाएं ऐसी होती हैं जो कथावस्तु को गति प्रदान करती हैं तथा किसी रहस्य का उद्घाटन करती हैं किन्तु विस्तार भय अथवा प्रस्तुति सम्बंधी असुविधा या अन्य

किसी कारण वश रंगमंच पर उनका अभिनय संभव नहीं हो पाता है तो पात्रों के परस्पर वार्तालाप के माध्यम से उनकी सूचना प्रदान की जाती है। इस प्रकार के संवादों को सूचक संवाद कहते हैं।

संवाद और अलंकार “संवाद योजना में कुछ आचार्यों ने अलंकारों को भी प्रमुखता दी है। उनके मत में जैसे शरीर पर आभूषण पहिनने से शारीरिक सौन्दर्य में अभिवृद्धि हो जाती है ठीक उसी प्रकार शब्दों और वाक्यों में अलंकार—योजना के द्वारा आकर्षण का भाव उत्पन्न हो जाता है। यद्यपि ऐसी आलंकारिक भाषा नाटक के लिए उपयुक्त नहीं, क्योंकि लोक—मानस की अनुभूतियों एवं प्रवृत्तियों का अनुकरण मात्र है अतः अलंकार—विधान से बहुत संभव है संवाद में जटिलता एवं कृत्रिमता आ जाय और रसज्ञ रसानुभूति न कर सके। इसीलिए भरत ने नाट्यशास्त्र में अधिक अलंकारों का उल्लेख न करके केवल चार अलंकारों को ही नाटक के उपयुक्त माना है। इनमें हैं—उपमान, रूपक, दीपक और यमक। साथ ही इनके भेद भी किए गए हैं। भरत ने इन अलंकारों का रस के साथ सम्बन्ध भी जोड़ा है। छोटे—छोटे अक्षरों से युक्त उपमा और रूपक का प्रयोग वीर, रौद्र और अद्भुत रस के काव्य में और श्रृंगार रस की रचनाओं में रूपक और दीपक से युक्त भार्या छन्द होना चाहिए।”¹¹

नाट्य संवाद प्रयोजन

नाटक में संवादों की नियोजना नाट्यधर्म को व्यक्त करने के लिये ही होता है। नाटक प्रेक्षक/पाठक तथा नाट्य संवाद के माध्यम से नाटक का समस्त कार्य—व्यापार, पात्रों के पारस्परिक संबंधों का ज्ञापन, उनका चरित्रगत वैशिष्ट्य स्थितियों, परिवेश आदि का परिपूर्ण रूपाकार खड़ा कर देता है। वस्तुतः संवाद के माध्यम से ही नाटककार अपने अभिप्रेत को अभिव्यक्ति दे पाने में सहज समर्थ हो पाता है। उपयोगिता की दृष्टि से नाटक में संवाद छह प्रकार के हो सकते हैं।—

- वस्तुजनक संवाद— जिस संवाद से कथावस्तु अग्रसर हो, वस्तु जनक संवाद कहलाता है।
- पात्र सूचक संवाद— जिन संवादों द्वारा पात्रों पर प्रत्यक्ष/परोक्ष रूप से प्रकाश पड़ता है, पात्र सूचक संवाद कहलाता है।
- रसपरक संवाद— जहाँ संवाद द्वारा रस की निर्झरणी प्रवाहित होती है, वहाँ संवाद रसपरक संवाद कहलाते हैं।

दृश्यसूचक संवाद

नाटक में जब पात्र किसी प्रसाद, ऋतु, वन, सरिता आदि के वर्णन द्वारा दृश्य सूचक संवाद कहलाते हैं।

विचार प्रकाशक संवाद

नाटककार पात्रों के माध्यम से भाव एवं विचार व्यक्त करता है, ऐसे संवाद विचार प्रकाशक होते हैं।

देश काल ज्ञापक संवाद

जब नाटककार संवादों में तत्कालीन स्थिति: परिवेश आदि को व्यक्त करता है तब वह संवाद देश काल ज्ञापक संवाद कहलाते हैं।

अंगाश्रित शरीर भाषा

नाटक सबसे पहले नाटककार की काल्पनिक दुनिया में काल्पनिक रंगमंच पर, काल्पनिक पात्रों द्वारा असंख्य बार खेला जा चुका है। इसी कल्पना को वह ध्वन्यात्मक भाषा एवं भाषेतर माध्यमों से अभिव्यक्ति करता है। एक सूक्ष्मदर्शी अपने दीक्षण ने इन भाषिक इकाइयों में छिपे क्रियांशों को कुशल अभिनेताओं के इंगितों की सहायता से, जो नाट्यभाषा रूपांश शरीरभाषा है, दर्शकों के सामने प्रदर्शित करता है।

नाट्याभिनय के संबंध में कहते वक्त नाट्याचार्य ने वाचिक, आंगिक और सात्विक आदि अभिनय को सामान्याभिनय कहा है। यदि किसी नाट्य में सात्विकाभिनय की प्रधानता होती है तो वह उत्कृष्ट नाट्य बताया गया। ये सात्विक एवं आंगिक अभिनय मनोभावों पर आश्रित है और अध्वन्यात्मक भाषा से संबंधित है। ये अध्वन्यात्मक भावव्यंजित अभिनय, अभिनेताओं के नयनों, कपोलों, दाँतों, ओष्ठों से तथा अन्य अवयवों के संचालन से प्रकट किया जाता है। इस अध्वन्यात्मक अभिव्यक्ति में भी, भाषिक संरचना के समान एक प्रकार की स्थिरता अथवा व्यवस्था है। यह व्यवस्थित अंगसंचालन ही आंगिक भाषा यानी शरीरभाषा है। पात्रों के अंग-संचालन (आंगिक-अभिनय) व्यवस्थित एवं पूर्व निर्धारित होने से ही दूसरे अभिनेताओं के इंगितों को तथा तद्जनित भावों को समझ लेते हैं। आहार्याभिनय से भी यही कार्य संपन्न होता है। एक अभिनेता जब फटी पुरानी धोती पहनकर रंगमंच पर प्रवेश करता है तब उसका आहार्य 'निशब्द भाषा' की सहायता से यह स्पष्ट बताता है कि प्रस्तुत पात्र की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति क्या होती है। यह अर्थबोध ध्वन्यात्मकभाव (वाचिकाभिनय) के जैसे-सभी दर्शकों को समान रूप से होता है। इसका कारण यह है कि आहार्य के माध्यम से भी 'निशब्द-भाषा' की सहायता से भावाभिव्यक्ति की जाती है। इस प्रकार की अभिव्यक्ति शरीरभाषा से संपन्न होने से यह भी नाट्यभाषा का अंग है।

इसके साथ-साथ नाट्यार्थ की अभिव्यक्ति करने के लिए अभिनेताओं का मौन, जो शरीरभाषा से जुड़ा हुआ है, बड़ी सहायता करता है। इसका भी, भावाभिव्यक्ति के सशक्त माध्यम के रूप में उपयोग किया जाता है। जिस प्रकार नाटककार ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा विचाराभिव्यक्ति करता है उसी प्रकार वह मौन संकेत से पात्रों की बातचीत के सिलसिले में किसी एक पात्र का अचानक मौन, संवाद के बीच सोच-समझकर आयोजित खामोशी, दर्शकों के मन को आकर्षित करने वाली नाटकीयता मात्र नहीं, उसकी खामोशी में निहित, गुंफित अर्थ को समझ भी लेता है। जिसको नाटककार अभिव्यक्ति करना चाहता है। नाटक में आयोजित अर्थगर्भित मौन के बारे में डॉ. शमीन अलियार जी ने यों कहा है कि—

“नाट्य भाषा की खामोशी में एक खास तरह की खूबसूरती है, मौन में एक मनोहारिता है, और एक नकारात्मक स्थिति नहीं। उससे पहले और बाद में प्रयुक्त शब्दों के बीच वह एक सेतु का काम ही नहीं करता वरन् उनके आधार पर एक अर्थ की सृष्टि भी करता है। शब्दों के बीच की

निस्तब्धता अपने में नाटकीय तनाव वहन करने के कारण बहुत सार्थक हो सकती है। यूं तो नाट्यभाषा मौन, हरकत, संवाद, गतिशीलता एवं स्थिरता का समन्वय करके अपना एक स्वतंत्र ढाँचा रचती है।” इस प्रकार देखें तो आहार्य और मौन आदि अंगाश्रित शरीर भाषा से जुड़े रहते हैं और नाट्यभाषा के अंश है।

उपकरणाश्रित मंचीय भाषा

वर्तमान युग की नाट्यभाषा का प्रमुख अंग है, उपकरणाश्रित मंचीय भाषा। नाटककार अपने मन में उद्बुद्ध विचारों और भावों की अभिव्यक्ति देने में ध्वन्यात्मक एवं अंगाश्रित भाषा के साथ-साथ इस विद्या का भी इस्तेमाल करता है। यद्यपि यह नाटक के मंचन से संबंधित कार्य होने से निर्देशक पर निर्भर है, फिर भी वर्तमान नाटककार नाट्यभाषा के इस अंग पर ध्यान दे रहे हैं क्योंकि नाटककार को कभी-कभी अपनी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अनुभूति की अभिव्यक्ति करने में ध्वन्यात्मक भाषा असफल प्रतीत होती है। तब वह रंगमंचीय भाषा तत्वों की सहायता लेने में विवश हो जाता है। नाटककार, निर्देशक की अपेक्षा दृश्यकाव्य नाटक के दृश्यतत्वों की संप्रेषणयता, भावव्यंजना और आकर्षणीयता से भलीभाँति परिचित एवं अनुभूत है और इसलिए ही इन तत्वों का प्रयोग करता है। अतः इस अध्वन्यात्मक भाषिक रूप के बिना नाटक और नाट्यार्थ अधूरा रहेगा।

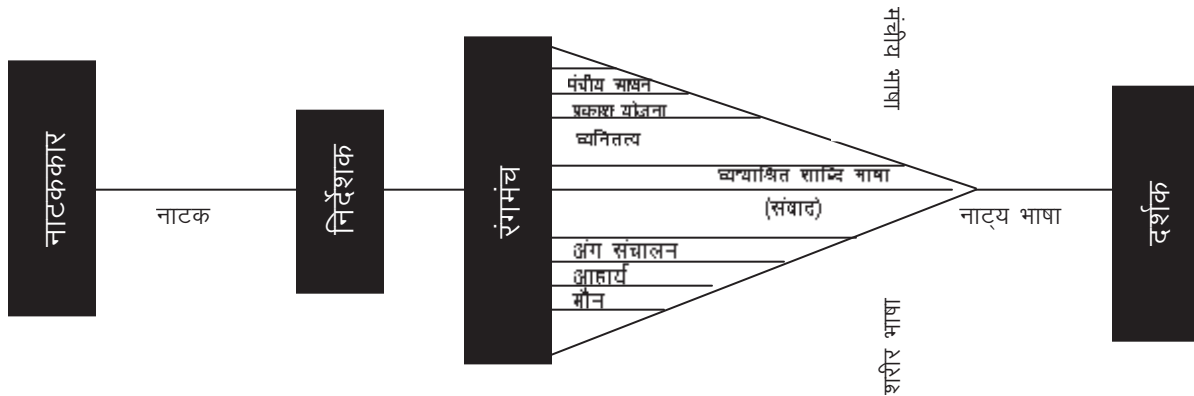
वर्तमान नाटक में रंग-सज्जा का महत्व है। यह रंगसज्जा नाटक में चित्रित दृश्य एवं वातावरण के अनुसार होती है। नाटक के प्रस्तुतीकरण के समय निर्देशक अपनी ओर से या नाटककार के निर्देशानुसार कई वस्तुओं का मंच पर उपयोग करता है इन वस्तुओं का उपयोग दो कार्यों के लिये होता है। कई वस्तुएँ नाटक के वातावरण की सृष्टि के निमित्त इस्तेमाल की जाती हैं तो अन्य ऐसी होती हैं जिनका उपयोग नट या नटी अभिनय के बीच करते हैं। इन वस्तुओं का उपयोग करने के पहले नाटक के ‘संकलनत्रय’ संबंधी तत्वों को मन में रखना चाहिए। रंगमंचीय वस्तुओं से तैयार किये गये वातावरण के साथ कथावस्तु को दर्शकों के सामने प्रदर्शित करता है। रंगसज्जा, नाटकों में यथार्थ का भ्रम उत्पन्न करती है और साथ-ही-साथ पात्रों के स्तर, जीवनादर्श आदि को व्यक्त करती है। मंच पर उपयुक्त एक-एक चीज़ अपनी ‘मौन भाषा’ से दर्शकों से संवदन करती है।

रंगसज्जा के समान रंगदीपन दर्शकों से ‘संवदन’ करता है। यह केवल एक यांत्रिक वृत्ति नहीं कह सकते। यह विशिष्ट प्रकार की भावाभिव्यक्ति है क्योंकि इसके माध्यम से नाटककार एवं नाटक-व्याख्याता निर्देशक बहुत कुछ बातें दर्शकों को बताते हैं। रंगमंच पर तथा अभिनेताओं पर, नाट्यार्थानुसार भिन्न-भिन्न रंग के प्रकाश पड़ते समय अभिनेताओं, मंचीय-वस्तुओं से युक्त रंगमंच एक सुंदर चित्र जैसा बन जाता है। इसके साथ अभिनेताओं के आंतरिक द्वंद्व के अनुसार उत्पन्न हाव, भावादि प्रत्येक-प्रत्येक रंगीले-प्रकाशों के माध्यम से प्रदीप्त किये जाते हैं अतः “रंगदीपन कला ऐसी माँग थी जो कलाकार के अंतर्भावों को उभारने में सहायक सिद्ध हो और कुछ नवीन रूप प्रस्तुत कर सके।”

“मंच की अपनी भाषा होती है मंच की भाषा में सभी प्रकार की ललित कलाओं का संगम होता है। मंच की भाषा को ‘नाटक के संदर्भ की भाषा’ कहना चाहिए। नाटक में सब कलाओं का संगम होने के कारण भाषा द्वारा अभिव्यक्ति में जो कमियाँ रह जाती हैं, उन्हें अन्य कलाएं पूर्ण कर

देती हैं। नृत्य-वाद्य-गायन ही नहीं अपितु चित्रकला, शिल्पकला आदि कलाएं मंच पर अवतीर्ण दिखलाई देती हैं। स्वयं पात्र की वेशभूषा और उसकी साज-सज्जा में भी कला निहित रहती है। स्वयं संवाद में भी पात्र अपनी अभिनय कला के आधार पर भाषा की कमियों को पूर्णतः प्रदान करता है। सब कलाओं की अपनी-अपनी भाषा होती है। और भाषा कला के प्रस्तुतीकरण में व्यक्त होती रहती है। भाषा के अभाव में भी मंच पर अन्य कलाओं का प्रदर्शन होता ही है संक्षेप में नाटक की भाषा की तरह मंच की भाषा का अपना महत्व है और यह भाषा संदर्भ के स्पष्टीकरण में उपयोगी है।¹²

उनके अलावा नाटक में 'ध्वनि' का प्रयोग दर्शकों के मन में विशेष प्रभाव उत्पन्न करने के उद्देश्य से किया जाता है यह भी एक विशिष्ट मंचीय साधन है। नाटक के प्रस्तुतीकरण के संदर्भ में उत्पादित 'ध्वनि' घटना के वातावरण की सृष्टि करती है। इसके साथ प्रत्येक घटना या नाट्यगति की ओर दर्शकों का ध्यान सामूहिक रूप से आकर्षित करके उनके मन में रसोद्रेक की सहायता भी करती है अतः नाट्य प्रस्तुतीकरण के संदर्भ में उत्पादित ध्वनि दर्शकों से कुछ-न-कुछ अवश्य बताती है जिसको समझकर उनके मन में उसके प्रति प्रतिक्रिया होती है, उनके संवेग जागृत होते हैं तथा वे तीव्र नाटकीय अनुभूति को प्राप्त करते हैं। नाटक में भावाभिव्यक्ति एवं विचार संप्रेषण के लिए उपयुक्त साधनों को हम रेखाचित्र के द्वारा कुछ इस प्रकार से व्यक्त कर सकते हैं—



उपर्युक्त रेखाचित्र से नाट्यभाषा का स्वरूप अधिक-स्पष्ट होता है कि नाटककार के द्वारा नाट्यार्थ की प्रस्तुति करने के लिए प्रयुक्त एक विशिष्ट अभिव्यक्ति के माध्यम को 'नाट्यभाषा' की संज्ञा से अभिषिक्त है।¹³

भाषा साहित्यिक अभिव्यक्ति का सर्वाधिक सशक्त माध्यम है। नाटक एक दृश्य काव्य है इसलिये इसकी भाषा दृश्य-विधान, अभिनय, गति तथा अन्य रंगीन तत्वों से जुड़ कर सत्याभास कराने में समर्थ होती है। डॉ. गोविन्द चातक लिखते हैं— "नाटक की भाषा एक समग्र अनुभव को एक विशिष्ट कला-रूप में ढालती है जिससे नाटक की संरचना, भाषा और रंगतत्व अपने सूक्ष्म संबंधों में परस्पर गठित होते हैं।" नाटक की भाषा संज्ञा, सर्वनाम या क्रिया पदों वाली भाषा नहीं होती, नाटक की भाषा मंच की भाषा होती है इसलिये वह नाट्यालय गुण से युक्त अभिनय की हरकतों एवं नाटकीय मनोरंजकता लिये होती है। नाटकीय भाषा के संदर्भ में नेमीचन्द्र जैन का

कथन है कि— “श्रेष्ठ नाटक की भाषा ऐसी होती है कि वह बोलचाल की भाषा से बहुत दूर ना हो।” इस प्रकार नाटक की भाषा अपने रंग, ध्वनि, स्पर्श और संकेतों तथा सम्पूर्ण मंचीय विशेषताओं से युक्त संवादों के शिल्प में नाटक को आकार प्रदान कर नाट्यानुभूति के एकदम करीब लाती है।

“भाषा नाटक का प्रधान एवं परमावश्यक तत्व है, इसे नाट्यकला का मूल और आदि प्रेरणाश्रोत कहा जा सकता है। नाटककार इसी एकमात्र उपकरण के माध्यम से नाटकीय वस्तु को गतिशील करने, नयी परिस्थितियों की सूचना देने, पात्रों के चरित्र को प्रस्फुटित करने तथा उनके अंतर्द्वंदों को प्रदर्शित करने, उचित वातावरण प्रस्तुत करने एवं उद्देश्य के समष्टि गत प्रभाव को पूर्ण करने में सफल होता है,

कथोपकथनों की भाषा ही मनोगत भावों की अभिव्यक्ति का वाहक होती है। इसका सरल, सुबोध, जीवनपूर्ण, प्रवाहयुक्त एवं प्रभावोत्पादक होना आवश्यक है, जिससे प्रेक्षकगण नाटककार के भावों को भली प्रकार हृदयंगम कर सकें, किन्तु भाषा इतनी सरल भी न हो कि उससे हिन्दी-गद्य की प्रचलित प्रांजल परिपाठी को आधात ही पहुंचे गद्य-शैली में संयम, चयन और परिष्कार होना वांछनीय है। वास्तव में यही तत्व इसके सौष्ठव की वृद्धि में सहायक होते हैं। इसलिए यही अपेक्षित है कि वाक्य-योजना में संयम हो एवं शब्दों का चयन मार्मिक एवं सूक्ष्म अर्थप्रकाशक हो। पात्रों के स्वभाव और परिस्थितियों के अनुसार भाषा-शैली में माधुर्य, ओज, आवेग, भावुकता, बौद्धिकता एवं व्यंग्य तथा तर्क का आ जाना आवश्यक है। नाटक में भाषा विभिन्नता अर्थात् अनेक भाषाएं लाने की अपेक्षा भाषागत अल्प विभिन्नता लाना अच्छा रहता है, क्योंकि अनेक भाषाओं के उन नाटकों को समझकर रस प्राप्त करना असंभव है। पुनः विदेशी पात्रों के भाषागत उच्चारण से ही उनके देश के भाषा-संबंधी उच्चारण की विशिष्टता प्रतीत हो जायेगी तथा साथ ही प्रेक्षणगण अथवा पाठक उसके भावों और विचारों को ही हृदयंगम कर सकेंगे। भाषा-प्रयोग के संबंध में नाटककार को इतना ध्यान रखना अनिवार्य है कि पात्रों द्वारा प्रयुक्त भाषा उनकी मर्यादा एवं योग्यता के अनुकूल हो, उसमें संभावना और आवश्यकता के साथ-2 स्वाभाविकता एवं औचित्य का विचार रखा जाना भी अपेक्षित है। वर्तमान युग के हिन्दी-नाटकों की भाषा में स्वाभाविकता, संयम, परिष्कार एवं प्रवाह के तत्व बड़ी सशक्तता से विद्यमान हैं।”¹⁴

नाट्य भाषा के संबंध में मोहन राकेश की स्पष्ट धारणा थी। इस संबंध में उनका विचार था; ‘भाषा केवल शब्द योजना नहीं’। भाषा की सजीव अर्थवक्ता जो कि शब्दों की रूठ अर्थयुक्तता से अलग है, कुछ अंश तक ध्वनि, स्वराधात और शब्दों के विशिष्ट विन्यास रंगमंच निर्भर करती है। परंतु मुख्य रूप से इस अर्थवक्ता की उपलब्धि प्रयोग की ऐतिहासिकता, विचार और अनुभूति की आंतरिक लय तथा बिम्बों के संयोजन में लेखक की आंतरिक अपेक्षा से होती है। भाषा का अर्थ साथ-2 रखे गये शब्दों का सम्मिलित अर्थ ही नहीं, उस संयोजन से प्राप्त होने वाला एक और अर्थ भी है। राकेश की नाट्य भाषा सही रूप में इन अपेक्षाओं को पूरा करती है। उसमें ध्वनि लय और व्यंजना का सुन्दर सामंजस्य मिलता है।

नाटक में भाषा की पहचान संवाद के दायरे में होती है। क्योंकि उसमें भाषा संवाद में ढलकर आती है। इसीलिये नाटक में संवाद से अलग भाषा का सवाल नहीं उठता। संवाद नाटक के कथ्य, कथानक, चरित्र और उसकी स्थितियों से पैदा होता है, भाषा उसका माध्यम मात्र बनती है फिर भी संवाद के स्तर पर भी भाषा का एक निश्चित दायित्व होता है। वह जब संवाद में

ढलती है तो नाट्य-स्थिति, चरित्र, सम्बोधक और सम्बोधित व्यक्ति और प्रेक्षक की मनः स्थिति के अनुरूप अपना सहज स्वरूप निर्धारित करती है। इसमें भावना, प्रतिक्रिया और अनुक्रिया जगाने में शब्द महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।¹⁵

डॉ. चन्द्र के नाटकों की भाषा उपर्युक्त विशेषताओं से युक्त तथा रंग संस्कारों से पुष्ट है। उनके प्रारंभिक नाटकों की भाषा की अपेक्षा बाद के नाटकों की भाषा में अधिक सूक्ष्मता तथा तीव्रता है जो नाट्य-वस्तु की मनोवैज्ञानिकता को प्रेक्षक तक पहुंचाने में समर्थ है।

डॉ. चन्द्र के नाटकों की भाषा संरचना निम्न बिन्दुओं में अभिव्यक्त की गई है-

1. भाषा का स्वरूप
2. भाषा और संवाद
3. बिम्ब विधान
4. प्रतीकात्मक
5. संगीतात्मकता

1. भाषा का स्वरूप

नाटक की भाषा अन्य साहित्यिक विधाओं की तुलना में भिन्न होती है। डॉ. चन्द्र ने नाटकों को अभिनय एवं मंचानुकूल बनाने के लिए लोक व्यवहृत तथा जन-प्रचलित भाषा का प्रयोग किया है, क्योंकि नाटक पढ़ा नहीं जाता, देखा और सुना जाता है, इसलिये भाषा ऐसी होनी चाहिए जो कानों में सुनाई पड़ते ही हृदयंगम हो जाए। डॉ. चन्द्र की भाषा कलात्मक एवं सहज ग्राह्य है। मुद्राराक्षस लिखते हैं कि- “वस्तुतः नाटक की भाषा जीवन की भाषा है जिसके साथ मानव मन की भावमयी अनुभूतियां, मुद्राएं, क्रियाएं और स्थितियां सदा जुड़ी होती हैं इसलिये उसमें किताब की भाषा से अलग संवेदना के स्वरों की अनुगूंज होती है जो अभिनेता की उद्भावनाओं से जीवंत हो उठती है।” सरल बोधगम्य एवं प्रवाह युक्त भाषा का प्रयोग कर उन्होंने नाटक की सम्प्रेषणीयता में वृद्धि की है।¹⁶

“नाट्यशास्त्र के अनुसार पाठ्य, गीत, अभिनय तथा रस सभी में किसी-न-किसी रूप में भाषा समाहित है। भाषा यानी बोली जाने वाली तकनीक। आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में भाषा विषयक गहन चिन्तन किया है। नाट्य तो तभी सार्थक होगा, जब उसमें भाषा, भाव, अभिनय तथा रस आदि सभी की सम्प्रेषणीयता होगी। इनमें भी प्रमुख स्थान भाषा का ही है।

वाक् तथा वाणी से संबंधित वाचिक अभिनय के प्रसंग में भरत मुनि ने वाचिक अभिनय की श्रेष्ठता का उल्लेख करते हुए कहा है कि वाणी तो नाटक का शरीर ही है। सारे शास्त्र वाक् से अनुस्यूत तथा वाङ्निष्ठ है। अतः वाणी से परे संसार में कुछ भी नहीं है। साधारण जनता की बोलचाल की भाषा, आचार तथा शैली आदि की अपेक्षा नाटकीय पात्रों की भाषा आदि भिन्न होती है।

देवाद्याः संस्कृतं प्राहुः प्राकृतं किन्नरादयः।

पैशाची च पिशाचाद्याः मागधी हीनजानयः।।

(नाट्य में देव आदि संस्कृत भाषी कहते हैं, किन्नर आदि प्राकृत, पिशाच आदि पैशाची तथा हीन कोटि की जातियाँ मागधी भाषा का प्रयोग करती हैं।)¹⁷

वाणी अथवा भाषा मनुष्य की भावाभिव्यक्ति का अधिक समर्थ एवं विलक्षण साधन है। वाङ्मयी अभिव्यक्ति की बोधात्मिका तथा रागात्मिका दो वृत्तियाँ हैं सामान्यतः वाणी का सहज संबंध बोधात्मिक वृत्ति के अतिरिक्त शब्द की रागात्मिका वृत्ति से भी प्रत्यक्षतः संबद्ध रहती है। सामान्य भाषाभिव्यक्ति स्थिति और वस्तु-संदर्भ से बहुत कुछ युक्त होती है जबकि कलाभिव्यक्ति व्यक्ति संदर्भ से परिपूर्ण होकर रागात्मक हो उठती है।

भाषा की संरचना व्यक्ति के भाव, विचार तथा उसके संदर्भ की रागात्मक वृत्तियों को व्यक्त करने में समर्थ होती है। वह उसके अस्तित्व तथा चिन्तन का निर्धारण भी करती है। इसी से भाषा के माध्यम से व्यक्ति के विचार, मंतव्य, कथन किसी निश्चित परिधि तक सीमित नहीं रहते, अपितु वे भाषा की क्षमता, शक्ति तथा व्यापकता को दर्शाते हैं। अपनी प्रेषणीयता में भी भाषा का विस्तार दृष्टिव्य है। नित्य नये संदर्भों में उपयोजित होने के फलस्वरूप उसका प्रभाव क्षेत्र विस्तार पाता जाता है। निरन्तर शक्ति संपन्न होते हुए भी भाषा की उन्मुक्तता के संबंध में पाश्चात्य विचारक फिलिप व्हील राइट का विश्वास है कि कितने भी व्यापक रूप अथवा कितनी भी कल्पना शक्ति लगाकर भाषा की कोई परिनिष्ठत व्यवस्था अथवा व्यवस्था में बांधी जाये, जब तक कि मानव कल्पना सजीव है, तब तक भाषा के खुलेपन के आविष्करण तथा उसके स्रोतों के विकास के लिये मांग निरन्तर उठती रहेगी।

भरत निरूपित भाषा विधान वाचिक अभिनय का सर्वस्व है। छंद, लक्षण, अलंकार और गुण आदि तो काव्य-शरीर के शोभाकर धर्म हैं। पर भाषा तो काव्य एवं नाट्य का साक्षात् शरीर है। भाषा के अंतर्गत भरत ने नाट्य में प्रयुक्त विविध भाषाओं, संबोधन, पात्रों के नामकरण तथा नाट्य की पाठ्य-शैली आदि नाट्योपयोगी विषयों का तालिक निरूपण किया है। नाट्यशास्त्र में प्रधान रूप से चार भाषाओं का विवरण प्रस्तुत किया गया है— अतिभाषा, आर्यभाषा, जातिभाषा और योन्यत्तरी भाषा। अतिभाषा वैदिक शब्द बहुल होती है। आर्यभाषा श्रेष्ठजनों की भाषा होती है। वह वैदिक भाषा है अथवा संस्कृत, यह भरत ने स्पष्ट नहीं किया है। योन्यत्तरी भाषा पशु-पक्षियों की बोली की अनुकरणात्मक नाट्यभाषा होती है।¹⁸

2. भाषा और संवाद

भाषा अभिव्यक्ति का माध्यम है, लेकिन नाट्यभाषा और अन्य विधानों की भाषा में पर्याप्त अंतर है। नाटक में भावों और विचारों की अभिव्यक्ति भाषा और अभिनय द्वारा की जाती है। नाटक में बहुत सी बातें आंगिक चेष्टाओं के माध्यम से भी कह दी जाती हैं। अतः नाटक की भाषा बहुत कुछ हरकत की भाषा होती है। भाषा और संवाद नाटक के प्रमुख शैलिक अवयव हैं। साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा नाटक में इनका प्रयोग विशेष रूप में महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि यहाँ भाषा और संवाद अभिनय में उतरते हैं। नाटक में संवाद बोले नहीं जाते, वे अभिनीत होते हैं। इसीलिए नाटक की भाषा और संवादों की योजना में नाटककार को विशेष सतर्क रहना पड़ता है। नाट्य-भाषा का सहज और बहुआयामी होना आवश्यक है। नाटक के लिये हरकत की भाषा अधिक उपयोगी होती है। नाटक के छोटे और बड़े संवादों का परीक्षण पात्र के मनोभावों एवं विचारों के आधार पर होना चाहिए। कहीं-कहीं नाटक के लिए बड़े संवाद भी आवश्यक हो जाते

हैं। भावावेग में संवादों का बड़ा होना स्वाभाविक है। नाटक में शिथिल संवादों के लिये विल्कुल स्थान नहीं है।

नाटक के मूल्यांकन के लिये, आज के परिवेश में उपर्युक्त मानदण्ड उपयोगी है, लेकिन इनके साथ ही नाटककार के दृष्टिकोण को भी हमें दृष्टि में रखना होगा। नाटककार ने नाटक को किस दृष्टि से लिखा है और उसकी दृष्टि आज के लिये कहां तक उपयोगी है, इन तथ्यों पर भी हमें विचार करना होगा। नाटक की समीक्षा भी बहुआयामी होनी चाहिए। अपनी मान्यताएँ नाटक पर बरबस आरोपित करने का मोह समीक्षक में नहीं होना चाहिए। समीक्षा की सार्थकता इसी में है कि वह नाटक को व्यापक पृष्ठभूमि के साथ विकास की सही दिशा प्रदान करें।¹⁹

संवाद सम् उपसर्ग पूर्वक वद् धातु से धञ् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हुआ है, जिसका तत्पर्य है—मिलकर बोलना, बातचीत तथा कथोपकथन आदि। कथा या चरित्र का विकास करने के लिए प्रायः नाट्यकार जिस पारस्परिक विचार विनिमय का आश्रय लेता है, उसे संवाद कहते हैं। अभिनय नाट्य शास्त्र के अनुसार प्रसंग, आवश्यकता तथा पद के अनुरूप भाषा में दो या दो से अधिक व्यक्तियों की बातचीत संवाद है। प्राचीन नाट्यशास्त्र में संवाद के स्थान पर पाठ्य या वाचिक अभिनय शब्दों का प्रयोग हुआ है।²⁰

नाट्य में संवाद का सर्वाधिक सशक्त माध्यम भाषा ही है। नाट्य में अन्य संकेतों की स्थिति अपेक्षाकृत भावाभिव्यंजना में गौण है, वे भाषा के सहयोगी या पूरक हैं। नाट्य में प्रयोग की जाने वाली भाषा के स्वरूप के संबंध में प्रथम विचार तो यह है कि नाट्य रचना जन सामान्य के लिये होने के कारण जनसाधारण द्वारा बोधगम्य भाषा का प्रयोग ही नाट्य शास्त्री नाट्य—भाषा की सरलता, स्वाभाविकता एवं लोक बोध्यता के ही पक्ष में हैं। किन्तु यह भी विचारणीय है कि नाट्य साहित्य का अंग है, अतः उसमें सरलता, साहित्यिकता, शिष्टता तथा कलात्मकता अवश्य होनी चाहिये। उसे पात्र, परिस्थित एवं विषय के अनुकूल होना चाहिए। भाषा में स्तरीयता होने के साथ वृत्त एवं चरित्र की सफल अभिव्यंजना की क्षमता होना भी अपेक्षित है।

डॉ. रमा चौधरी के नाटकों में विविध पारम्परिक एवं आधुनिक छंदों का प्रयोग हुआ है। पारस्परिक छंदों में अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा, उपजाति, उपेन्द्र वज्रा, द्रुत विलम्बित, भुपंग प्रयात, मन्दाक्रान्ता, मात्रा, मालिनी वंशस्थविलम्, शार्दूलविक्रीडितम्, शालिनी, शिखवरिणी, हरिणी, स्रग्धरा, पञ्जाटिका तथा इन्द्रवंशा का प्रयोग हुआ है। श्रीमती रमा चौधरी एक उच्चकोटि की नाट्यकर्मी होने के साथ-साथ श्रेष्ठ कवयित्री भी हैं। यह तथ्य उनके नाटकों में प्रयुक्त पद्यावलोकन से भी परिपुष्ट होते हैं। रस—भाव—भाषा—अलंकारों से उनके पद्य अभिमण्डित हैं।

संवाद नाटक का सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपकरण रंगमंच सापेक्ष भाषा, रंग—संस्कारों से पुष्ट, चुटीले, दृश्य—कौशल और नाट्य—लय सम्पन्न, रोचक संवादों को जन्म देती है। नाटक के संवाद ही रंग प्रदर्शन की आत्मा 'वस्तु' को धारण करते हैं और पूर्ण प्रभाव के साथ सम्प्रेषित करते हैं। संवाद ही कथानक की अभिव्यंजना एवं चरित्रों की प्रतिष्ठा के मूलाधार होते हैं। नाटकीय संवाद के संदर्भ में श्री मोहन राकेश ने जिस बात पर बल दिया है वह है—“उनका जीवंत एवं प्रचलित भाषा के अधिक से अधिक निकट होना। कम से कम शब्दों में परिस्थिति एवं पात्र के द्वंद्व को अभिव्यक्ति देना ही संवाद का प्रयोजन है।”

साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा नाटक में लिखित शब्द का उतना महत्व नहीं है जितना कथित शब्द का। कथित शब्द तथा कहने वाला अभिनेता रंगमंच के सर्वाधिक प्राणवान

तथा व्यापक तत्व है। आधुनिक प्रयोगशील हिन्दी नाटकों में सहज स्वाभाविक, प्रतीकात्मक संवादों की लोकप्रियता बढ़ी है। संवाद ही रंग-प्रदर्शन के नाट्य-बिम्ब उपस्थित करते हैं, तथा नाटकीय विडम्बनाओं का सृजन भी करते हैं। आधुनिक नाटकों में अल्प संवाद, पूर्ण संवाद, रिक्तियों वाले संवाद, तकिया कलाम वाले संवाद आदि अनेक शिल्प-तकनीक के संवादों का विकास हुआ है।

3. बिम्ब विधान

आधुनिक नाटकों में नाटकीय दृश्य-व्यापार को समृद्ध करने के लिये बिम्ब-विधान का प्रयोग वस्तु स्थितियों को सम्प्रेषित करने और सुबोध बनाने के लिये किया जाता है। हिन्दी के आधुनिक प्रतीक-नाटकों में बिम्बों की योजना अधिकाधिक हुई है। वास्तव में बिम्ब-विधान नाटकों में प्रतीक विधान की एक प्रारंभिक अवस्था है। नाट्य वस्तु में निहित मनोविज्ञान को सम्प्रेषित और स्थायित करने में बिम्बों का योगदान सबसे महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय है। डॉ. नगेन्द्र का मत है कि- “बिम्ब के स्वरूप को समझने के लिए बिम्ब के स्वरूप का मनोवैज्ञानिक विवेचन आवश्यक है। बिम्ब हमारे मनोवैज्ञान का महत्वपूर्ण उपकरण है।” नाटक में बिम्बों का उपयोग प्रायः तीनों रूपों में देखने को मिलता है पहला- मनोवैज्ञानिक तौर पर, दूसरा-अभिव्यक्ति सौंदर्य में वृद्धि के निमित्त तथा, तीसरा कलात्मक रूप में। रंगकर्म को इससे कलात्मक सौंदर्य प्राप्त होता है। आधुनिक नाटकों में बिम्ब विधान के पारम्परिक उपमान बहुत पीछे छूट गये हैं। इसी श्रृंखला में डॉ. चन्द्र ने अपने नाटकों में प्रयोगधर्मी बिम्ब-योजनाओं की सृष्टि कर नाटकों को एक जीवंत धटना का रूप दे दिया है, जिससे मंच पर घटित नाटक एकदम तात्कालिक दृश्यमान और अनुभवगम्य रूप में हमारे सामने आता है।

4. प्रतीकात्मकता

नाट्य-साहित्य में प्रतीकों का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रतीकों से नाटकों के सूक्ष्मार्थ की व्यंजना होती है। प्रतीक के माध्यम से नाटक अपने कथ्य से अधिक व्यंजित होता है। डेविड के शब्दों में- “सामान्यतः प्रतीक ऐसी अभिव्यक्ति है जो अपने कथ्य से अधिक व्यंजित करती है। वास्तव में प्रतीक में अप्रस्तुत विषय की प्रधानता रहती है और संकेत के द्वारा ही अप्रस्तुत की ओर इंगित किया जाता है।” व्यापक रूप में प्रतीक मात्र संकेत ही नहीं होता, वरन् अप्रस्तुत, अगोचर को सजीव रूप प्रदान करने में सक्षम होता है।

डॉ. चन्द्र के प्रतीकात्मक नाटकों में सूक्ष्म विचारों को स्थूल मानवीय प्रवृत्तियों के माध्यम से व्यक्त किया गया है। उनकी रचनाओं में प्रतीक कहीं अन्योक्ति, कहीं रूपक तथा कहीं मानवीयकरण के रूप में परिलक्षित हुई है।

5. संगीतात्मकता

नाटक में कथ्य की सघनीकृत अभिव्यक्त तथा परिस्थिति पद्य को जन्म देती है। नाटक में काव्य का समावेश उसकी अपेक्षाओं पर निर्भर होता है। इसीलिये नाटक में पद्य का समावेश साधन मात्र है साध्य नहीं। डॉ. गोविन्द चातक लिखते हैं कि- “यथार्थवाद के नाम पर नाटक में काव्य का विरोध हिंदी में एक सामान्य बात रही है, किन्तु उसके मुख्य प्रेरणा स्रोत इब्सन और

चेखव की सफलता को आंकना चाहे तो यह कहना होगा कि वे अपनी नाट्य कृतियों में काव्य की अद्भुत संवेदना भरने में सक्षम रहे हैं।” वस्तुतः अत्याधिक गद्यात्मक नाटक को हानि पहुँचती है। भाषा का पद्यात्मक होने का अर्थ उसका कठिन होना नहीं है नाटक में कविता शब्द पर नहीं, शब्द के व्यवहार पर निर्भर करती है। नेमीचन्द्र जैन के शब्दों में— “नाट्यानुभूति भी एक विशेष प्रकार की तीव्रतम काव्यात्मक अनुभूति ही है जिसमें संवेदनाओं, भावों और विचारों के अधिक प्रत्यक्ष और दृश्य रूपों का संयोजन होता है।” वस्तु, वस्तुतः नाटक में काव्य को जन्म देती है और वह बिल्कुल सहज है, जिससे भावों की अभिव्यक्ति को विस्तार मिलता है।

डॉ. चन्द्र के नाटकों की भाषा संरचना रंगमंच सापेक्ष है। उनमें दृश्यत्व, क्रिया और हावभाव मूलक अभिव्यक्ति सन्निहित है। उनकी भाषा नाटक और रंगमंच की वास्तविक भाषा है, जो दृश्य बिम्बों को उजागर करती है। उनकी भाषा में सरलता तथा बोधगम्यता है। उनकी भाषिक सर्जना सत्याभास को बुनती है, कोई भी संवाद नाट्य वस्तु की उपेक्षा नहीं करते, बल्कि कथावस्तु की गहराई, क्रिया, गति और बिम्ब तथा प्रतीकात्मकता से जुड़कर एक ओर नाट्यानुभूति तथा दूसरी ओर दृश्य रूपों को उजागर करते हैं। भाषा पात्रानुकूल, प्रसंगानुकूल तथा नाटककार के विचारों, भावों और उद्देश्यों की पूर्ति में पूर्णतः समर्थ हैं। नाटककार ने अपने नाटकों में प्रायः सभी नाट्य शैलियों का प्रयोग किया है, जिससे नाटक अत्याधिक रोचक, प्रभावोत्पादक, मार्मिक एवं कथावस्तु को गति देने में सक्षम हो सके हैं।²¹

पारसियों की भाषा

भाषा का अत्याधिक प्रयोग पारसी थियेटर और प्रसाद दोनों में हुआ है। पारसी थियेटर में इसके अति प्रयोग के पीछे पारसी नाटक और थियेटर में भाषा का इस्तेमाल संवाद और अभिनय की अनुरूपता में हुआ है; साथ ही राष्ट्रीयता जैसे आदर्शों की भावना को जगाने और उसे चरम भावसीमा तक पहुँचाने के लिये भी हुआ है। स्थिति अनुसार, पात्रानुकूल, दृश्य अनुसार इसका प्रयोग हुआ है। पर विधान और प्रभाव की दृष्टि से भाषा का न सार्थक अभिव्यक्ति के लिए इस्तेमाल हुआ है न व्यंजना, न नियति की कोई गहरी सार्थकता के लिए। भाव और संघर्ष चूँकि प्रायः सूचित, परिभाषित और प्रदर्शित हुए हैं, इसीलिए यहां भाषा का स्वरूप भावुकता—भरी शायरी और लफ्जों—शब्दों से उत्पन्न अतिनाटकीयता के लिए हुआ है। भाषा की अभिधा शक्ति यहां प्रधान है, साथ ही इस पर व्याख्या, सूचना, उद्देशपूर्ण भावनाओं और भावनाओं के प्रदर्शन, कथन, वर्णन, चित्रण और उच्छ्वासमय अभिव्यक्ति का इतना असर है कि दर्शक को कुछ भी सोचने के लिए नहीं रह जाता।

हश्र ने ‘रुस्तम व सोहराव’ में कथा, चरित्र और विषय के अनुकूल शुद्ध साहित्यिक उर्दू का इस्तेमाल किया है। भाषा में यहां ‘ग’, ‘फ’, ‘ज’ और अन्य महाप्राण वर्णों से बने अत्यन्त नाटकीय शब्दों की भरमार है।

शेरे—शायरी की भाषा ज्यादातर यहां पुरुष पात्रों ने इस्तेमाल की है। गद्य में काव्यात्मकता डालकर स्त्री पात्रों की एक विशेष भाषा यहां हश्र ने दी है।

हश्च से पहले के सारे नाटककार, और सबसे ज्यादा 'बेताब' ने पद्य का इस्तेमाल किया है। सवाल—जवाब, कथोपकथन सब शैरो—शायरी की ही भाषा में होते थे। भूल से गद्य कोई बोले तो बुरा। भाषा—इस्तेमाल की यह भूमिका थी हश्च के आगमन के समय।²²

संगीतिकाओं की भाषा

संगीत नाट्य 'रामवनगमनम्', 'पार्वतीपरमेश्वरीयम्' तथा 'सीता हरणम्' पूर्णतः पद्यात्मक है। 'पार्वती परमेश्वरीयम्' की भाषा कालिदास के समान ही सरल एवं माधुर्य गुण विशिष्ट है। संगीत नाट्यों की भाषा न तो अधिक क्लिष्ट है और न ही अति सरल। छंदों को विविध रागों तथा तालों में बांधा गया है। गीत के साथ ही छंद, राग व ताल का निर्देश किया गया है। एक छंद में निबद्ध एक अथवा एकाधिक पद्यों के समूह को एक गीत कहते हैं। वह पूरा पद्य समूह (सन्दानितक, कलापक, कुलक आदि) एक ही प्रकार के राग एवं ताल से सम्बद्ध है। इस प्रकार 'रामवनगमनम्' में कुल 40 गीत हैं जो 40 विभिन्न रागों में निबद्ध हैं। 22 छंदों का प्रयोग किया गया है—

पदाकुलक, उपजाति, अनुष्टुप, मन्दाक्रान्ता, हारिणी, वियोगिनी, वंशस्थ, मालिनी, आर्या, द्रुत बिलम्बित, विद्युन्माला, भुजंग प्रयात, शार्दूलविक्रीडितम्, इन्द्रवज्रा, मत्तमयूर, अष्टपदी भ्रमरावर्तनी गीति, अष्टपदी अग्न्यावर्तनी, शिखरिणी, पृथ्वी, बसन्त तिलका, अष्टपदी, पद्यावर्तिनी तथा सगंधरा।

40 राग हैं— यमन, हमीर, सारंग, पटदीप, पीलू, बसंत, खमाज, देशकार, माण्ड, आसावरी, नायकी कान्हडा, पूरिया धनाश्री, विहाग, अडाणा, शंकरा, केदार, खम्बावती, जोगी, दुर्गा, सोहनी, देशी, जयजयवन्ती, कर्नाटकी, मिश्रपीलू, भीमपलासी, बहार, दरवारी कान्हाडा, मुलतानी, वागेश्री, तोड़ी, मधकौंस, मिश्र माण्ड, मालकौंस तथा भैरवी।

तालों में त्रिताल, झपताल, दादरा, धुमाली, कहरवा, एकताल, तीव्रा, दीपचन्दी कुल आठ तालों का प्रयोग हुआ है। 'पार्वतीपरमेश्वरीयम्' में बत्तीस छंद, पैसठ गीत, पैसठ राग व ग्यारह तालों का प्रयोग हुआ है। 'सीताहरणम्' में भी 65 पद्य इन्हीं रागों व तालों में बद्ध हैं। संवादों का पूर्ण अभाव है। नाट्य निर्देश भी नहीं दिए गए हैं। नाट्यकर्मी के कथ्य पर ही पात्र मूकभावाभिनय करते हैं।

रागों का चयन में नाट्य कर्मी ने पात्रों के मनोभावों, अवस्था एवं प्रकृति के औचित्य को ध्यान में रखा है।"

भारत वर्ष एवं यूनान में नाटक को जीवन का अंग माना गया है। इसलिए नाटक एवं जीवन एक—दूसरे के पूरक हैं, एक—दूसरे के सहयोगी हैं। नाटक की भाषा पर चर्चा करते हुए डॉ० सिंधवी ने कहा कि भाषा का संयम नाटक के लिये सबसे जरूरी है। नाटक एवं मनुष्य दोनों के लिये संवेदन बहुत जरूरी है। नाटक में मर्यादा के परिपालन की आवश्यकता है।

श्री नैमीचन्द्र जैन ने 'नाट्यभाषा एवं रंगभाषा' पर प्रकाश डालते हुए स्पष्ट विभाजन किया। उन्होंने कहा कि हमारे देश में नाटक को दृश्य काव्य कहा गया है। नाटक ऐसा काव्य है जिसमें आलेख, पर दृश्य भी हों। अतः नाट्यभाषा के दो रूप मिलते हैं, पहला काव्य—रूप एवं दूसरा दृश्य—रूप।

नाटक के उत्पत्ति की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है कि नाटक को 'पंचमवेद' की संज्ञा दी गयी है। नाटक की यात्रा की शुरुआत नाटककार से होती है जबकि पूर्णता प्रदर्शन से मिलती है। नाटक में नाटककार के रोजमर्रा की जिन्दगी के अनुभव समाहित रहते हैं जिसमें नाटककार

प्रेम, धृणा, उत्साह, भय इत्यादि के सर्जनात्मक प्रयोग से नाटक लिखता है। अभिनेता अभिनय, परिधान, मुद्राओं इत्यादि से उसको नया अर्थ देता है। संगीत की, नर्त की, नृत्य की, शरीर की जीवन्त भाषा तैयार करता है। अभिनय के माध्यम से उसकी स्वतंत्र सत्ता बनती है। इस प्रकार जटिल माध्यम के रूप में नाटक एक आयामी नहीं वरन् बहुआयामी होता है।

नाट्यभाषा एवं रंगभाषा की पृष्ठभूमि बनाते हुए श्री जैन ने कहा कि नाटक में लिखी जाने वाली भाषा जीवन की होती है। हमारे यहाँ पूर्व में नाटक की भाषा काव्यभाषा रही है। काव्यभाषा एक श्रेष्ठ प्रकार की दीप्तियुक्त शक्तियुक्ति भाषा होती है। यह काव्यभाषा जीवन की बुनियादी प्रश्नों की ओर ले जाती है एवं जीवन को ऊपर, ऊर्ध्व की ओर ले जाती है। नाटक की भाषा एक बड़े अर्थ को ध्वनित करती है जिससे एक खास तनाव एवं संगीत होना चाहिए जो दर्शक के मन पर प्रभाव डाल सके। नाटक में पात्रों के कई स्तर होने के कारण नाटक की भाषा के कई स्तर होते हैं जिससे रंगभाषा के भी कई स्तर दिखाई देते हैं। पात्रों का संयोजन भी नाटक की भाषा को बनाता है। नाटक में संगीत के प्रयोग की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि बेसुरे संगीत से नाटक की प्रभावान्विति में बाधा उत्पन्न होती है। इस प्रकार समग्रतः काव्य, अभिनेता, अभिनेता की गति, नृत्य, संगीत, परिवेश, वेशभूषा इत्यादि सभी नाटकीय भाषा को प्रभावित करते हैं।

प्रसिद्ध कथाकार एवं नाटककार श्री गिरिराज किशोर ने कहा कि रंगकर्म जीवन का पर्याय है। जीवन के प्रति हमारी गंभीरता रंगमंचीय है। रंगमंच जीवन में एक संवेदना होती है। रंगमंच के साथ उसका कर्म भाषा, संवाद, तकनीक इत्यादि अलग होता है। रंगकर्म की भाषा मात्र संवाद ही नहीं है। भाषा के दो रूप होते हैं: एक दैनिक व्यवहार की भाषा, दूसरी सृजन की भाषा। कई बार रचनाकार दैनिक व्यवहार की भाषा को सृजन के स्तर पर ले आता है। भाषा मात्र अभिव्यक्ति है, वाह्य भौतिक अभिव्यक्ति है, जिससे रंगभाषा के सम्पूर्ण आन्तरिक सृजनात्मक वैशिष्ट्य का सम्प्रेषण नहीं हो पाता है; क्योंकि भाषा आन्तरिक सृजन-विवक का बहुत थोड़ा-सा अंश ग्रहण कर पाती है। अपने अनुभव का बहुत कम अंश ही भाषा के माध्यम से आ पाता है। इसलिए भाषा अपनी अभिव्यक्ति के कारण महत्वपूर्ण है। रचना के समय भाषा चेतनवत् संवेदना से जुड़ती है। प्रारंभ में भाषा एवं संवेदना में अपारदर्शिता होती है जो बाद में क्रमशः कम होती जाती है। रंगभाषा का प्रश्न रंगमंच का संदर्भ है। भाषा जब अकृत्रिम होती है तभी सम्प्रेषित हो पाती है, जैसे शराबी का दरवाजा खटखटाना एवं पक्षियों का कलरव, इत्यादि। रंगमंच पर अभिनय के अतिरिक्त जो कुछ भी होता है, भाषा ही होती है। शाब्दिक भाषा को रंगभाषा बनाना जटिल कार्य है। शब्दों के पीछे संवेदना कार्य करती है। शब्द के आने के साथ ही उसके सभी पक्ष, परम्परा, संस्कार, इत्यादि सामने आते हैं। भाषा का प्रश्न अपने संस्कारों से जुड़ा है इसलिए कुलीन भाषा, जनमानस की भाषा, रंगमंच की भाषा अभी नहीं बन पायी है। 'रंगभाषा' की 'क्राइसिस' अनुभव के साथ और बढ़ती जा रही है; क्योंकि रंगकर्म एवं रंगभाषा की कई पाबन्दियाँ हैं। दर्शक रंगकर्म का पारखी होता है, जो संवेदना को संयोजित करता है।

व्यंग्यकार एवं नाट्यकर्मी उर्मिल कुमार थपलियाल ने अपने वक्तव्य में कहा है कि नाटक केवल वर्तमान है। नाट्यशास्त्री निःसंदेह रंगभाषा के लिए है इसलिये यथार्थ के प्रति आग्रह स्वाभाविक है। नाटककार अपनी रंगमंचीय भाषा को जो रूप देता है, वह अलग ही होती है। भाव की भाषा रस है। रंगशिल्प को चैतन्यता हमेशा भाषा देती है। आन्तरिक मंतव्य भाषा का रूप है।

अपनी रचनाधर्मिता से नाटक हमें ऐसा 'साइलेन्स' देता है जिसे हम उसे उसी रूप में भरते हैं। नाट्यभाषा एक संवादीय संरचना है। वास्तविक नाटकीयता उसकी संवेदनाओं में निहित है।

इलाहाबाद से आये उभरते रंगकर्मी अनुपम आनंद ने कहा कि भाषा तुरंत नहीं बनती, भाषा के लिये समूह चाहिए, ग्रहणशीलता चाहिए। रंगमंच में भाषा का स्वरूप थोड़ा-सा दिखाई देता है। मन में धटित होने वाली भाषा ही रंगभाषा है। रंगमंच की भाषा दृश्य एवं श्रव्य दोनों स्तरों पर चलती है। इसी संदर्भ में चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि गाँधीजी जैसे बड़े व्यक्तित्व के प्रभाव से बड़े रचनाकार का जन्म होता है। डॉ.वी.एस. पाठक ने कहा कि जीवन का अनुकरण ही नाटक है। नाटक में नृत्त और नृत्य दोनों सम्मिलित हैं। नाटक की भाषा अपनी बड़ी संभावनाओं के साथ उजागर होती है। प्रसाद की नाट्यभाषा संवेदनशील कवि की विलक्षण नाट्यभाषा है।

भाषा के अंग

अरस्तू ने भाषा के ये अंग माने हैं— वर्ण, मात्रा, संयोजक शब्द, संज्ञा, क्रिया, विभक्ति या कारक, वाक्य अथवा पदोच्चय।²³ इस भाग में अरस्तू ने इन भाषा-अंगों पर निम्नलिखित ढंग से विचार किया है।

1. वर्ण— केवल वही ध्वनि वर्ण होते हैं जो किसी (सार्थक) ध्वनि-समूह का अंग बन सके।²⁴ इसका तात्पर्य यह है कि पशु जिस ध्वनि का उच्चारण करते हैं उसका हम उच्चारण नहीं कर सकते क्योंकि वह निरर्थक ध्वनि है तथा सब के लिए बोधगम्य नहीं हो सकती। अतः ऐसी अविभाज्य ध्वनि को वर्ण नहीं कह सकते। अरस्तू ने लिखा है कि जिस सार्थक ध्वनि की चर्चा की है वह या तो स्वर हो सकती है या अन्तस्थ। स्वर वह होगी जिसके उच्चारण में होंट और जिह्वा दोनों मिलती हैं तथा जो इनकी सहायता के बिना नहीं बोली जाती, वह अन्तस्थ होती है।

2. मात्रा— स्पर्श और स्वर से मिलकर जो अर्थहीन ध्वनि होती है वह मात्रा कहलाती है यथा 'ग्र' अर्थात् ऐसी ध्वनि का कोई अर्थ नहीं होता।

3. संयोजक शब्द— शब्दों के पश्चात् या उनके मध्य में जो शब्द जुड़ते हैं वे संयोजक शब्द कहलाते हैं। शब्द से अलग उनका कोई अर्थ नहीं होता। अरस्तू ने लिखा है— "संयोजक शब्द वह अर्थहीन ध्वनि है जो कई सार्थक ध्वनियों के समुदाय को एक सार्थक ध्वनि में परिणित करने की क्षमता रखता हो।

4. संज्ञा— संज्ञा वह संश्लिष्ट सार्थक ध्वनि है जो कालवाचक नहीं है तथा जिसके अवयव अपने में कोई सार्थक न हों।

5. क्रिया— संज्ञा की भाँति इसका भी अपने आप में कोई अर्थ नहीं होता लेकिन यह कालवाचक संश्लिष्ट ध्वनि अवश्य है। उदाहरण के लिए 'जाना' क्रिया को लें तो मालूम होता है कि इससे 'जाता है', 'गया है', 'जायेगा' आदि जो क्रियायें बनेंगी उनमें वर्तमान, भूत और भविष्य का बोध आसानी से हो सकता है।

6. विभक्ति— अरस्तू ने बतलाया है कि विभक्ति संज्ञा और क्रिया दोनों में होती है। यथा—'का' और 'को'।

7. वाक्य या पदोच्चय— वाक्य या पदोच्चय संश्लिष्ट सार्थक ध्वनि का नाम है। कम से कम कुछ अवयव अपने आप में सार्थक होते हैं। वाक्य या पदोच्चय में संज्ञा और क्रिया का होना

आवश्यक नहीं है बल्कि इसके बिना भी अर्थ निकल सकता है। यथा 'मानव की परिभाषा' यह क्रिया और संज्ञा के बिना होते हुए भी सार्थक वाक्य है।

8. शब्द प्रकार— भाषा के अंगों पर विचार करने के पश्चात् अरस्तू ने शब्दों के भेद और उनके विविध अर्थों की ओर दृष्टिपात किया है। शब्द दो प्रकार के होते हैं—सरल और यौगिक।

इसके पश्चात् अरस्तू ने संज्ञाओं के तीन भेद पुल्लिंग, स्त्रीलिंग, नपुंसक लिंग आदि बतलाकर उनके उदाहरण दिए हैं। इस प्रकार अरस्तू के उल्लिखित भाषा विषयक विचारों का अनुशीलन करने पर कुछ निष्कर्ष निकाल सकते हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि त्रासदी के लिए पद्यात्मक भाषा हो क्योंकि अरस्तू पदावली को शब्दों का छन्दोबद्ध विन्यास मानता है। दूसरी बात यह है कि अरस्तू ने भाषा के सम्बन्ध में उच्चारण, व्याकरणिक स्वरूप और शब्दों के विविध रूपों पर प्रकाश डाला है। इससे ज्ञात होता है कि अरस्तू भाषा के अतिरिक्त संगठन को महत्व देता है। उसने भाषागत बाह्य विशेषताओं पर बल नहीं दिया अपितु भाषा—निर्माण के तत्वों का स्वरूप उदाहरणों सहित समझाकर त्रासदी के अनुकूल भाषा की योजना बतलाई है। नाटककार को शब्द चयन की दृष्टि से अच्छी तरह विचार करना चाहिए तथा शब्दों के अनेक रूपों से परिचित होना चाहिए। इससे यह अर्थ निकलता है कि भाषा सुसंगठित, विशुद्ध और व्याकरण के नियमों से बद्ध तथा परिष्कृत होनी चाहिए। अरस्तू का भाषा सम्बन्धी यह विश्लेषणात्मक ढंग उसकी भाषा—वैज्ञानिकता भी सिद्ध करता है।²⁵

निष्कर्षतः आधुनिक नाट्यकर्मियों की रूपक रचनाओं में अपेक्षाकृत संवाद सरल एवं लोक—बोध्य है। भाषा व्यवहारिक, समासरहित अथवा अत्यल्प समास वाली हैं आवश्यकतानुरूप लोकोक्तियाँ, मुहावरों, सूक्तियों एवं लौकिक न्यायों के प्रयोग से भाषा में भाव उत्पन्न करने का प्रयास किया गया है। साहित्यिक प्रयोगों को करने से भी भाषा में क्लिष्टता नहीं आई है। भाषा स्तरीय होने के साथ—साथ पात्रों के चरित्र एवं घटना की अभिव्यंजना करने में सफल रही है। कही विदेशी एवं स्थानीय भाषाओं के शब्दों का यथावत् ग्रहण, कही उनका संस्कृतीकरण किया गया है। वस्तुतः भाषा में दृश्यात्मक कौशल, अर्थ—लय—निर्भर व अभिव्यंजना शिल्प इन नाट्यकर्मियों की नाट्य भाषा के प्रमुख गुणों के रूप में दिखाई पड़ते हैं इनके रूपकों में छोटे—छोटे चुस्त संवाद अपनी दृश्य वृत्ता और यथार्थ मूलकता से पाठकों एवं दर्शकों के हृदयों को छूते हैं। सम्वादों की गहन अभिव्यंजना स्थायी प्रभाव उत्पन्न करती हैं सम्बोधन में प्रायः पारम्परिक पदों का प्रयोग हुआ है। ये सम्बोधन पात्रों की मनोवृत्ति के अनुरूप परिवर्तित भी हुए हैं, जो श्रोता के व्यक्तित्व एवं गुणों के प्रकटीकरण में सहायक हैं। संवादों में संक्षिप्तता, सरलता, पात्रानुकूल व्यंग्यात्मकता आदि विशेषताएं दृष्टिगोचर होती हैं। संवादों में प्रयुक्त वाक्य भी छोटे—2, व्यापार प्रधान होने से नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ हैं। वाद्यों का प्रयोग सामान्यता लोकरंजन, तीक्ष्ण भावालारेक 'अभिव्यक्ति' उपदेश देने अथवा कथ्य समर्थन के लिए किया गया है। पद्यों में प्राचीन छंदों का प्रयोग अधिकांशतः हुआ है। रमा चौधरी तथा वनमाला भवालकर ने आधुनिक गीतों का भी प्रयोग किया है। संगीतिकाओं में प्रयुक्त पद्य विविध तालों एवं रागों में निबद्ध हैं, जो नाट्य कर्मियों के संगीत नैपुण्य के परिचायक हैं। स्वगत कथन भी प्रायः ऐसे स्थलों पर किया गया है, जहां मुखर अभिव्यक्ति में किसी पात्र के चरित्र एवं कथावस्तु के औदात्य का ह्यस हो सकता था। नाट्य कर्मियों के रूपकों में अनेक श्लोक, विविध प्रतिष्ठित ग्रंथों से उद्धृत हैं। उद्धृत श्लोक नाट्य कर्मियों के गहन अध्ययन एवं विविध शास्त्रज्ञान के परिचायक हैं।

स्वरचित श्लोकों में उनका कवित्व प्रस्फूटित हुआ है। संवादों के पूर्व में प्रचुर नाट्य निर्देश दिए गए हैं जिससे रूपक में अभिनेयता एवं गति आ गई है तथा वे दर्शकों को बांधे रखने में सफल हैं। वस्तुतः इस प्रकार के संवाद एवं भाषा से रंगमंचीय भाषा को एक सार्थक आयाम मिला है।

4.2 अलंकार

काव्य की भांति संगीत में भी अलंकार शोभावर्धक धर्म है, जो स्वर सौन्दर्य की सृष्टि नहीं वरन् श्री वृद्धि करते हैं। जैसे—

“शशिना रहितेव निशा विजलमेव नदी लता विपुष्पेव ।
अविभूषितेव च स्त्री गीतिरलंकार हीना स्यात् ॥”

— भरतकृत नाट्यशास्त्र

अर्थात् अलंकार के बिना गीति बैसे ही श्री विहीन होती है जैसे कि चन्द्रमा के बिना शशि, जल के बिना नदी, पुष्पहीन लता और आभूषण विहीन स्त्री।²⁶

संगीत में अलंकार सुन्दरता का पर्यायवाची है। अलंकार का अर्थ ही है— आभूषण या सजावट करने वाली वस्तु। भरत मुनि ने अनेक स्थालों पर अलंकारों का वर्णन किया है। जैसे आभूषण के अलंकार, संगीत के अलंकार, वाद्य के अलंकार, काव्य के अलंकार, वीणा के अलंकार इन सभी क्षेत्रों में अलंकृत करने वाली वस्तु को अलंकार कहा गया। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र से लेकर आधुनिक संगीत तक अलंकारों को विशिष्ट स्थान दिया गया, क्योंकि लगभग सभी ग्रंथकारों ने अपने ग्रंथों में अलंकारों की चर्चा कर उनके विविध प्रकार बताये हैं। भरत ने नाट्यशास्त्र के 16 वें अध्याय में काव्य के अलंकारों का वर्णन किया है और नाटक में प्रयोग करने के लिये चार प्रकार के अलंकारों का वर्णन किया है—उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक। यदि हम ध्यान से देखें तो संगीत कला में जो काव्य है, वंदिश है, उसमें भी इन चार अलंकारों का प्रयोग होता है। संगीतकार वंदिश की रचनाकार अपने भावों को व्यक्त करता है, और उसकी यह वंदिश जितनी खूबसूरत और अलंकारिक होगी उतनी ही भावाभिव्यक्ति और रसानुभूति श्रोताओं तक होगी। आज जो भी प्राचीन वंदिशें लोकप्रिय हैं, उसका कारण यह है कि वे साहित्य और भाव की दृष्टि से उत्कृष्ट रही।

“भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में शब्द जैसे पुकारना, विस्मय, क्रोध, शोक, चिन्ता, हर्ष, अहंकार, व्याधि आदि में जो ध्वनि प्रयोग हुई है, वे सब अलंकार के ही रूप हैं क्योंकि स्वरों की इस उच्च, नीच ध्वनि से संगीत में भाव और सौन्दर्य की उपत्ति होती है। वाणी के उतार—चढ़ाव के लिये भरत ने स्वरों के छः अलंकारों का वर्णन किया है।

1. उच्च
2. दीप्त
3. मन्द्र
4. नीच
5. द्रुत और
6. विलम्बित

इन छः अलंकारों का संगीत की दृष्टि से बहुत महत्व है, क्योंकि इन छः अलंकारों में उच्च, दीप्त, मन्द्र, नीच, संगीत में नाद के ऊंचे नीचेपन तथा द्रुत और विलम्बित भरत के नाट्यशास्त्र में ‘गति’ शब्द के अर्थ में प्रयुक्त हुये हैं। यह द्रुत और विलम्बित संगीत के आलाप, तान, वंदिश, गत आदि सभी भागों से सम्बंधित हैं। इस प्रकार भरत द्वारा वर्जित पाठ्य के उपरोक्त छः अलंकारों का संगीत की दृष्टि से अत्यन्त महत्व है।

भरत ने नाट्यशास्त्र के 21 वें अध्याय में आभूषणों के पर्याय में अलंकारों का वर्णन किया है, अर्थात् भरत के अनुसार, “शरीर के विभिन्न अवयवों पर धारण की जाने वाली पुष्पमालाएँ, गहने तथा वस्त्रों का प्रयोग अंग तथा उपांग विद्यान में अलंकार कहलाता है। “नाट्यशास्त्र” के 22 वें अध्याय में भरत ने “नाट्यालंकारों” का वर्णन किया है।

भरत के द्वारा अलंकार 'भाव तथा रसों' के आधार पर माने जाते हैं। संगीत में भी इन अलंकारों का महत्व है, क्योंकि वहाँ भी भावाभिव्यक्ति प्रधान होती है। संगीत में भरत द्वारा वर्जित यह अलंकार स्वर तथा शब्दों के माध्यम से प्रयुक्त होते हैं और बंदिश को कलात्मक बना देते हैं। भरत के नाट्यालंकारों का संगीत में अत्यंत महत्व है। भरत के नाट्यशास्त्र से पूर्व भी वैदिक संगीत में सामवेद में वर्जित सात स्वरों का प्रयोग स्वर को सजाने के लिये ही किया जाता था। जैसे— क्रुष्ट, प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थ, मन्द्र और अतिस्वार्य इन सातों स्वरों की क्रियाओं से सजाने का जो कार्य होता था, उसी प्रकार आज भी शाब्दिक अलंकारों का प्रयोग स्वर को सजाने के लिये किया जाता है। देखा जाए तो इन सात स्वरों से ही अलंकारों का जन्म हुआ है। डॉ. जयदेव सिंह के मतानुसार सामसंगीत विकसित अवस्था में ही गीत और वीणावादन दोनों में ही गमक और अलंकारों का प्रयोग होने लगा था यद्यपि इनका वर्णन अलंकार के नाम से ही किया गया, फिर भी प्रयोग की दृष्टि से इन सातों स्वरों की क्रियाएँ अलंकार के समान ही हैं।

विभिन्न ग्रंथों में अलंकार की परिभाषा

1. नरदकृत 'नारदीय शिक्षा'— "नारदीय शिक्षा में नारद ने लिखा है कि "गान्धर्व गान केवल सामगान के समान सीधे-साधे नहीं होते थे, इनमें अलंकारों का प्रयोग होने लगा था और यह गान्धर्व गान और वादन ही अभिजात संगीत का बीज था।" स्वरों के मध्य में परस्पर कर्षण क्रिया भारतीय संगीत में बहुत महत्व की मानी जाती है। नारदीय शिक्षा में स्वर के वर्ण का भी उल्लेख है। और गाने के दस गुणों का भी वर्णन है—

गन स्युत दशविद्या गुणवृत्तिस्तद्यथा
श्रक्तं पूर्णम् अलंकृतं प्रसन्नं व्यक्तं
विकृष्टं श्लक्ष्णं समं सुकुमारं मधुरमिति गुणाः।

2. भरतकृत 'नाट्यशास्त्र'— नाट्यशास्त्र में भरत ने अलंकारों को वर्णों के आश्रित बताते हुए चार प्रकार के वर्ण बताये हैं, स्थायी, आरोही, अवरोही, संचारी।

भरत ने लिखा है—

एते वर्णास्तु विज्ञेयाश्रचत्वों गीत योजकाः।
एतान् समाश्रितान् सम्यगलंकारान् निबोधत्।।

3. दत्तिल कृत 'दत्तिलम्'— दत्तिल ने भी अलंकार को वर्णाश्रित बताया है तथा 13 अलंकार प्रकारों का वर्णन किया है।

वर्णाश्रयास्तु विज्ञेया अलंकारास्त्रयोदशः।

4. वृहदेशी— मतंग ने अपने ग्रंथ वृहदेशी में सर्वप्रथम अलंकार को परिभाषित किया।

अलंकारशब्देन मंडलमुच्यते।

अर्थात् अलंकार शब्द का तात्पर्य सजाने से है— जैसे कोई भी वस्तु श्री हीन होकर अच्छी नहीं लगती, उसी प्रकार से गीतियां भी अलंकारों के महत्व को दर्शाते हुये अलंकारों का प्रयोग गायक और श्रोता को सुख देने वाला बताया है।

5. भरत भाष्यम्— नान्यदेव ने इस ग्रंथ में अलंकारों को वर्णाश्रित बताया है।

अलंकार एतद्वक्ष्ये वर्णानामेव लक्षणम्।

अर्थात् अलंकारों के लिये ही वर्णों के लक्षण बताये गये हैं। नान्यदेव ने भी अलंकारों का सभी प्रकार की गीतियों और जातियों में प्रयोग करने का वर्णन किया है। नान्यदेव ने वर्णन किया है कि—

यानि देवताऽलंकार भेद जातानि तानि सु।

योज्यानि सर्व गान्धर्वे सप्त गीतिषु ॥

अर्थात् जितने भी देवता के अलंकार हैं उनका सभी प्रकार की गीतियों और जातियों में प्रयोग करना चाहिये।

6. संगीत राज— महाराणा कुंभा ने अलंकार की परिभाषा इस प्रकार दी है। “जातियों में अंश अपन्यास, सन्यास से भूषित वर्णों पर आधारित स्वर समूहों को अलंकार कहा जाता है।

7. संगीत रत्नाकर— शारंगदेव ने संगीत रत्नाकर में अलंकार शब्द की परिभाषा दी है। जो अपने आप में काफी पूर्ण है।

विशिष्ट वर्ण संदर्भमलंकार प्रचक्षते।

अर्थात् विशिष्ट वर्ण संदर्भ को अलंकार कहते हैं— विशिष्ट वर्ण संदर्भ से तात्पर्य है कि किसी निश्चित क्रम से स्वरों के उच्चारण को अलंकार कहते हैं। अलंकार द्वारा अलंकृत गीत सुखदायक होता है। अलंकार से अभिप्राय है कि एक निश्चित क्रम से स्वरों की संघटना हो जैसे— सा रे ग, रे ग म। इस क्रम से आरोह—अवरोह के अनुसार यदि आगे बढ़ा जाये जो यह एक अलंकार बन जायेगा। प्रत्येक अलंकार में आरोह—अवरोह की गति रहने पर भी कोई न कोई वर्ण प्रधान रहता है, शारंगदेव ने अलंकारों के महत्व पर लिखा है कि—

रतिलाभः स्वरज्ञानं वर्णाड.गनो विचित्रता।

इति प्रयोजनान्याहुरलंकार निरूपणे ॥

अर्थात् रतिलाभ, स्वर, ज्ञान एवं वर्णों के विभिन्न अंगों की विचित्रता को समझने के लिये अलंकारों का निरूपण हुआ है। शारंगदेव ने संगीत के समस्त अंगों की प्राप्ति के लिये अलंकारों का प्रयोजन बताया है।

8. संगीत दर्पण— दामोदर पंडित ने अपने ग्रंथ में एक—एक मूर्च्छना से 63 अलंकार की उत्पत्ति पंडितों द्वारा बताई गई है। उन्होंने अलंकार की परिभाषा दी है—

विशिष्ट वर्ण संदर्भमलंकार प्रचक्षते।

9. रस कौमुदी— श्री कण्ठ ने “रस कौमुदी” में स्वरों के विशिष्ट समूह को अलंकार कहा है।
विशिष्टस्वर संदर्भमलंकार बुधा जगुः।

10. चतुर्दण्डप्रकाशिका— पं. व्यंकटमखी ने अपने ग्रंथ में अलंकार की कोई निश्चित परिभाषा न देकर केवल इतना कहा है, कि स्वरों के परिष्कार की दृष्टि से अलंकारों का वर्णन किया जा रहा है।

संगीत की प्रथम सीढ़ी सात स्वर है। और इन्हीं स्वरों को उचित प्रकार से गाने के लिये पं. व्यंकटमखी ने अलंकारों की योजना बताई है। उन्होंने कुल आठ अलंकारों का वर्णन किया है, ये आठों अलंकार दक्षिण भारत में प्रचलित आठ तालों में निबद्ध है। स्वरों के साथ-साथ तालों के अभ्यास की दृष्टि से भी ये अलंकार महत्वपूर्ण है।

11. संगीत पारिजात— पं. आहोबल ने अपने ग्रंथ में अलंकार की परिभाषा इस प्रकार दी है,
क्रमेण स्वर संदर्भमंकार प्रचक्षते।

उन्होंने अपने पूर्व ग्रंथकारों का ही अनुसरण किया है। प्राचीन विद्वानों ने चारों वर्णों स्थायी, आरोही, अवरोही, संचारी के अनुसार अलंकार का वर्णिकरण किया है, चाहे जिस वर्ण का अलंकार में प्रयोग हो, एक-एक निश्चित क्रम से स्वरों की संघटना रहती है। अलंकार में स्वरों का शुद्ध या विकृत अवस्था से कोई सम्बंध नहीं रहता, वे ही केवल स्वरों के निश्चित क्रम का द्योतक है। शारंगदेव ने 63 अलंकार, अहोबल ने 69 अलंकार लिखे हैं।

12. क्रमिक पुस्तक मालिका— आधुनिक काल में पं. भातखण्डे जी ने अपने ग्रंथ ‘क्रमिक पुस्तक मालिका’ में अलंकार की परिभाषा दी है और लिखा है कि विशिष्ट स्वर समूह ही अलंकार बन जाते हैं। उनको भी आरोह-अवरोहादि वर्णों की आवश्यकता होती है। पं. भातखण्डे जी का मत है कि— “प्रचार में गुणीजन अलंकारों को पल्टे भी कहते हैं। छात्रों को स्वर ज्ञान होकर राग विस्तार का ज्ञान भी शीघ्रता से हो जाए, यही अलंकारों का मुख्य उद्देश्य है। अलंकारों के लिये कोई नियमित स्वर संख्या का विशेष नियम नहीं है। इसके अतिरिक्त गमक, मींड, आस, कंप, गिटकरी, लाग, डाट, भूषिका आदि शाब्दिक अलंकार के अंतर्गत आते हैं।”

डॉ० नगेन्द्र ने अपने ग्रंथ “भारतीय सौन्दर्य शास्त्र की भूमिका” में लिखा है कि “संगीत में गुण-दोष का विधान भी अलंकार प्रयोग में औचित्य तथा अनुपात के प्रयोग से आवश्यक है।” काव्य की भांति संगीत में भी अलंकार शोभावर्धक धर्म है जो स्वर सौन्दर्य की सृष्टि नहीं वरन् श्री वृद्धि करते है।

श्री कृष्णधन वनर्जी ने अपने ग्रंथ “गीत सूत्रधार” में अलंकारों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उन्होंने विशिष्ट वर्ण समूह आभूषण दोनों ही अर्थों में अलंकारों का वर्णन किया है और लिखा है—

“Alankaras were called Kala. These ancient Alanlaras were embalishments formed by particular combinations of particular notes or formed by one, two, three or more groups of notes. Each of these groups comprising one, two or three notes

particularly juxtaposed with each other each if these groups of notes in an Alankara whether Consisting of one notes or of more notes, was called a 'Kala' ”

13. संगीतांजलि— पं. ओमकारनाथ ठाकुर ने संगीतांजलि में अलंकार की परिभाषा देते हुये लिखा है कि “वर्णों के अनुसार जब किसी निश्चित क्रम को अपनाकर कोई स्वर रचना बनाई जाती है, तब उसे अलंकार कहते है। इसी को प्रचार में पल्टा भी कहते हैं। जैसे— सारेग यह आरोही वर्ण का एक टुकड़ा है। इसी टुकड़े के क्रम को अपनाकर 'सारेग, रेगम, गमप, मपध, पधनि इत्यादि टुकड़ों की एक लड़ी सी बनाई जाती है, तब उसे अलंकार कहते है।

14. मारिफुन्नगमात— राजा नवाव अली ने अपनी पुस्तक “मारिफुन्नगमात” में अलंकार का वर्णन इस प्रकार किया है— अलंकार तानों से उत्पन्न हुये है। किसी विशेष वर्ण में कुछ स्वर के समूहों का नाम अलंकार है। आजकल की बोलचाल में इस प्रकार समझना चाहिये कि अलंकार बने बनाये पल्टे को कहते है। अलंकार शब्द का अर्थ है—'गहने'। कूट तानों में स्वरों का समूह है। अलंकार राग की बढ़त करने में सहायता देते हैं।²⁷

इस प्रकार प्राचीन और आधुनिक कालीन अनेक ग्रंथकारों ने अलंकारों का महत्व बताते हुये उन्हें वर्णाश्रित कहा है। संगीत का आधार वर्ण है, वर्ण अर्थात् स्वर के प्रयोग करने की विधि। यह वर्ण चार प्रकार के है— स्थायी, आरोही, अवरोही, संचारी।

स्थायी वर्ण में किसी स्वर का बार—2 दीर्घ उच्चारण किया जाता है। जैसे— सा सा सा सा या सा S S S. आरोही वर्ण में स्वरों को आरोही क्रम में गाया जाता है। जैसे— सा रे ग म। अवरोही वर्ण में स्वरों को अवरोही क्रम में गाया जाता है। जैसे— सां नि ध प। संचारी वर्ण में उपयुक्त तीनों विधियों के मिश्रण से स्वरों का उच्चारण किया जाता है। जैसे— सा सा सा, रे ग म ग रे सा। भारतीय संगीत का समस्त क्रियाकलाप इन्हीं चार वर्णों के अंतर्गत आता है।

भरत और मतंग ने वर्णों का विस्तार मन्द्र, मध्य तथा तार तीनों स्थानों पर बताया है। मतंग ने वर्ण की परिभाषा इस प्रकार दी, “वर्ण शब्देन गानममिधीयते।”

अर्थात् गानक्रिया को वर्ण कहते है। शारंगदेव, सोमनाथ, आहोबल, श्री कंठ, नान्यदेव, पाश्वदेव इत्यादि सभी ग्रंथकारों ने वर्ण की इसी परिभाषा पर बल दिया है, और संगीत में वर्ण को अत्याधिक महत्व दिया है। वर्ण ही समस्त गायन का आधार था तथा स्वरोच्चारण का समस्त क्रियाकलाप इन्हीं वर्णों के अंतर्गत आता था। सभी ग्रंथकारों ने इन वर्णों पर आधारित अलंकारों का उल्लेख इसलिये किया है। जिससे विद्यार्थियों को उनके अभ्यास द्वारा संगीत में निपुणता प्राप्त हो जाये। अलंकार इस प्रकार वर्ण पर ही आश्रित है।

गायन के अतिरिक्त भरत ने नाट्यशास्त्र में “धातु” संज्ञा का वर्णन किया है, जिसको वीणा बजाने की तकनीक के समान माना जाता था, यह 'धातु' आधुनिक बोलों के समान थीं, जिनको वीणा वादन के बजाने योग्य अलंकार कहा है।

अलंकार के भेद—

“अलंकार के दो भेद हैं, जिन्हें **शब्दालंकार** और **वर्णालंकार** कहा जाता है। प्रथम, ध्वनि व शब्द प्रधान और दूसरा स्वर व वर्ण प्रधान होता है। साहित्य में वर्णालंकार एवं गीत तथा वाद्य में स्वरालंकार प्राण के समान होता है।”

अलंकार के प्रकार—

“भरत ने नाट्यशास्त्र में 33 अलंकारों का वर्णन किया है, जिनमें स्थायी वर्ण के सात, संचारी वर्ण के 14, आरोही वर्ण के 13 और अवरोही वर्ण के 5 अलंकार माने हैं।

स्थायी वर्ण के अलंकार है— प्रसन्नादि, प्रसन्नता, प्रसन्नाद्यांत, प्रसन्नमध्य, क्रमरेचित, प्रस्तार और प्रसाद आदि।

संचारी वर्ण के अलंकार है— मन्द्र, प्रसन्नादि, प्रेड.खत, विन्दु, सन्निवृतप्रवृत, रेचित, कम्पित, सम, कट्टर, वेगुण, रज्जित, अवलोकित, आकर्तक, परावर्तक।

आरोही वर्ण के अलंकार— निष्कर्ष अम्यूच्चय, हसित, विन्दु, प्रेड.खत, आक्षिप्त, विस्तीर्ण, उद्ध, ह्यमान, सम्प्रदान, संधिप्रच्छादन, प्रसन्नादि, प्रसन्नात।

अवरोही वर्ण के अलंकार— विधूत, त्रिवर्ण, अद्वाहित, उद्गीत, वेणि।”²⁸

“भरत तथा मतंग मुनि ने जिन अलंकारों में लय योजना बताई है वे निम्नवत् है।

रज्जित अलंकार— भरत के अनुसार क्रम से दो स्वरों को दो कलाओं में गाकर तत्पश्चात् बिना अंतर के एक स्वर आगे जाकर बापिस आना रज्जित अलंकार है।

जैसे— सा रि ग रि आदि
1 1 1/2 1/2

मतंग के अनुसार दो स्वरों को क्रम से दो कलाओं में गाकर तत्पश्चात् एक स्वर को छोड़कर आरोह और उसके बाद छोड़े हुये स्वर का प्रयोग करना रज्जित अलंकार है, जैसे— सा रि

म ग आदि
1 1 1/2 1/2

भरत— स रि ग रि रि ग म ग ग म प म म प ध प
1 1 1/2 1/2 1 1 1/2 1/2 1 1 1/2 1/2 1 1 1/2 1/2

प ध नि ध ध नि सां नि नि सां रें सां
1 1 1/2 1/2 1 1 1/2 1/2 1 1 1/2 1/2

मतंग— स रि म ग रि ग प म ग म ध प
1 1 1/2 1/2 1 1 1/2 1/2 1 1 1/2 1/2

म प नि ध प ध सां नि ध नि रे सा
1 1 1/2 1/2 1 1 1/2 1/2 1 1 1/2 1/2

आक्षिप्तक अलंकार— भरत और मतंग ने सारेग रेगम आदि को आक्षिप्तक अलंकार, शारंगदेव ने इसी को 'आक्षेप' कहा है। वर्तमान में प्रारंभिक विद्यार्थियों को इसी अलंकार द्वारा शिक्षा दी जाती है। भरत ने इसे षड्विद्य कहा है। भरत और मतंग ने एक कला से लेकर छः कलाओं में पूरा करने को कहा है। षड्विद्य आक्षिप्तक अलंकार बनाने की दो विधियां हैं। जिनमें दिये गये लय विधान को स्पष्ट किया जा रहा है।

1. स रि ग

$$\frac{1}{4} \frac{1}{4} \frac{1}{2} = 1$$

2. स रि ग

$$\frac{1}{2} \frac{1}{2} 1 = 2$$

3. स रि ग

$$1 \ 1 \ 1 = 3$$

4. स रि ग

$$1 \ 1 \ 2 = 4$$

5. स रि ग

$$\frac{3}{2} \ \frac{3}{2} \ 2 = 5$$

6. स रि ग

$$2 \ 2 \ 2 = 6$$

दूसरी विधि— इस विधि में छहों प्रकार एक ही कला के होंगे केवल स रि ग इन तीनों स्वरों के कालमान में भेद होगा।

जैसे—

1. स रि ग

$$\frac{1}{4} \ \frac{1}{4} \ \frac{1}{2} = 1$$

2. स रि ग

$$\frac{1}{4} \ \frac{1}{2} \ \frac{1}{4} = 1$$

3. स रि ग

$$\frac{1}{2} \ \frac{1}{4} \ \frac{1}{4} = 1$$

4. स रि ग

$$\frac{3}{8} \ \frac{3}{8} \ \frac{2}{8} = 1$$

5. स रि ग

$$\frac{3}{8} \ \frac{2}{8} \ \frac{3}{8} = 1$$

6. स रि ग

$$\frac{2}{8} \ \frac{3}{8} \ \frac{3}{8} = 1$$

इस विधि से सातवाँ प्रकार भी बन सकता है।

7. स रि ग

$$\frac{1}{3} \ \frac{1}{3} \ \frac{1}{3} = 1$$

विधृत अलंकार— भरत और मतंग मुनि का यह अलंकार आरोह वर्ण का है। जिसमें प्रथम स्वर चार बार उच्चारण करके अगले दो स्वरों को द्रुत लय में प्रयोग करते हैं।
जैसे— स स स स रिग , रि रि रि रि गम , ग ग ग ग म प , म म म म प ध , प प प प ध नि , ध ध ध ध नि सां।”²⁹

“मतंग ने चार वर्णों में अलंकारों को बताया है। इन्होंने अलंकार के विषय में उल्लेख किया है—

“अलंकार शब्देन शब्देन मंडल न मुच्छते”

इन्होंने ‘वृहद्देशी’ में 33 अलंकारों के नाम बताये गये हैं।

1. प्रसन्नादि 2. प्रसन्नात 3. प्रसन्नाधन्त 4. प्रसन्नमध्य 5. सम 6. विन्दु
7. निवृत्तप्रवृत्त 8. वेणु 9. कम्पित 10. कुहरित 11. रेचित 12. प्रेखोलित
13. तारमन्द्र(प्रसन्न) 14. मन्द्रतार प्रसन 15. प्रस्तार 16. प्रसार 17. प्रसाद
18. उद्वाहित 19. उपलोलक 20. क्रम
21. निष्कूजित 22. ह्यादमान 23. आवर्तक 24. परिवर्तक 25. उद्धटित 26. आक्षिप्तक
27. संप्रदान 28. हसित 29. हुंकार 30. संधिप्रच्छादन 31. विद्युत
32. उद्गीत 33. गात्रवर्ण”³⁰

“दत्तिल ने ग्रंथ ‘दत्तिलम्’ में 13 प्रकार के अलंकारों का वर्णन किया है। दत्तिल ने ‘मग्नहन मुच्यते’ कहा है।

नान्देव ने ‘भरतभाष्य’ में 40 अलंकार के प्रकारों का वर्णन किया है।

पार्श्वदेव ने ‘संगीत समयसार’ में दत्तिल के समान 13 प्रकार के अलंकार बताये हैं।

शारंगदेव ने ‘संगीत रत्नाकर’ में 63 अलंकारों का वर्णन किया है।

महाराणा कुंभ ने ‘संगीतराज’ में रत्नाकर के सदृश ही सात स्थायी वर्ण के 12 आरोही के, 12 अवरोही के, 25 संचारी के और अन्य सात लोक प्रसिद्ध अलंकार वर्जित किये हैं।

सोमनाथ ने ‘राग विवोध’ में 32 अलंकारों का वर्णन किया है। इन्होंने चार वर्णों में निम्न अलंकार बताये हैं।

स्थायी वर्ण— प्रसन्नादि, प्रसन्नता, प्रसन्नाधान्त, प्रसन्नमध्य।

आरोही वर्ण— विस्तीर्ण, निष्कर्ष, प्रेङ्खित, विन्दु, हसित, सन्धिप्रच्छादन, आक्षिप्त।

अवरोही वर्ण— आरोही वर्ण के ही अलंकारों के व्युत्क्रम को अवरोही वर्ण के अलंकार बताया गया है।

संचारी वर्ण— प्रसाद, प्रेङ्ख, रज्जित, आक्षेप, परिवर्त, निष्कूजित, उद्वाहित, उद्धटित, हुंकार, स्खलित, क्रम, भयेन, ह्यादमान।

दामोदर ने 'संगीत दर्पण' में संगीत में प्रयोज्य 63 अलंकारों का वर्णन किया है, इन्होंने नियमित वर्ण समुदाय को अलंकार कहा है। और एक-2 मूर्च्छना में से 63 अलंकार बताये हैं। पं. दामोदर पहले ग्रंथकार हैं जिन्होंने मूर्च्छना पद्धति से अलंकारों की उत्पत्ति मानी है। तीन ग्रामों की 21 मूर्च्छनाओं से $63 \times 21 = 1323$ अलंकारों की उत्पत्ति संभव है।³¹

“पं. अहोबल ने 'संगीत पारिजात' में अलंकारों की कुल 68 संख्या बताई है। इन्होंने अधिकतर संगीत रत्नाकर के ही अलंकारों का अनुकरण किया है, और संगीत के बदलते हुये स्वरूप का भी उल्लेख किया है। पं. अहोबल ने अलंकारों का वर्णन इस प्रकार किया है।—

1. स्थायी वर्ण के अलंकार— जिसके प्रारंभ तथा अंत में एक ही स्वर हो अर्थात् आरंभ वाला स्वर ही अंत में हो वह स्थायी वर्ण के अलंकार कहलाते हैं। ये सात हैं, जिनका वर्णन शारंगदेव ने भी किया है, प्रसन्नादि, प्रसन्नात, प्रसन्नाधान्त, प्रसन्नमध्य, क्रमरेचित, प्रस्तार तथा प्रसाद।

1. प्रसन्नादि— मन्द्र से पर्याय रखने वाला 'प्रसन्न' तथा मन्द्र के आदि का 'प्रसन्नाद्य' होता है।

2. प्रसन्नात— मन्द्र के अंत का 'प्रसन्नात' कहलाता है।

3. प्रसन्नाधान्त— मन्द्र सप्तक के आदि तथा अन्तपूर्वक 'प्रसन्नाधान्त' होता है।

4. प्रसन्नमध्य— मन्द्र के मध्य 'प्रसन्नमध्य' होता है।

5. क्रमरेचित— क्रम से चलने वाला 'क्रमरेचित' है।

6. प्रस्तार— जिससे स्वरों का प्रसारण हो।

7. प्रसाद— जिसके श्रवण से प्रसन्नता हो।

मुनियों द्वारा वर्णित अलंकार— इस संदर्भ में अहोबल ने और भी बहुत नाम मुनि लोग बताते हैं।

1. भद्र 2. नन्द 3. जित 4. सोम 5. ग्रीव 6. भाल 7.

प्रकाशक

2. आरोही वर्ण के अलंकार— यहाँ उन्होंने शारंगदेव का अनुकरण किया है, विस्तीर्ण, निष्कर्ष, विन्दु, अभ्युच्छ, हसित, प्रेङ्खित, आक्षिप्त, संधिप्रच्छान, उद्गीत, उद्वाहित, त्रिवेर्ण, वेणि।

1. विस्तीर्ण:— स रि ग म प ध नि स (विलम्बित लय से)

2. निष्कर्ष:— सस रिरि गग मम पप धध निनि सस

गात्र— ससस रिरिरि गगग ममम पपप धधध निनिनि ससस

अथवा

सससस रिरिरि गगग ममम पपप धधध निनिनि सससस

3. विन्दु:— सससरि रिरिगि गगग ममम पपप धधध निनिनि स

4. अभ्युच्छ:— सगपनि, रिमधस

5. हसित:— स सरि सरिग सरिगम सरिगमप सरिगमपध सरिगमपधनि सरिगमपधनिस

अथवा

स रिरि गगग ममम पपप धधध निनिनिनिनिनि सससससससस

6. प्रंखित:— सरि रिग गम मप पध धनि निस

7. आक्षिप्तः— ससगग रिरिमम गगपप ममधध पपनिनि धधसस
8. संधि प्रच्छादनः— सरिग रिगम गमप मपध पधनि धनिस
9. उहगीतः— ससरिग रिरिगम गगमप ममपध पपधनि धधनिस
10. उद्वाहितः— सससस रिरिगम रिरिरिगिगमप गगगगममपध ममममपपधनि पपपपधधनिस
11. त्रिवेर्णः— सरिगगगग रिगममम गमपपप मपधधध पधनिनिनि धनिससस
12. वेणिः— ससस रिरिग गगग रिरिग गगग ममम गगग ममम पपप ममम पपप धधध पपप धधध निनिनि धधध निनिनि ससस

3. अवरोही वर्ण के अलंकार— इन्होंने इन्हीं के व्युत्क्रम में 12 अवरोही अलंकार बताये हैं। पूर्वकथनानुसार आरोही वर्ण के अलंकारों के समान ही अवरोही वर्ण के भी अलंकार होंगे।

4. संचारी वर्ण के अलंकार— अहोबल अपने ग्रंथ में 26 संचारी वर्ण के अलंकारों का वर्णन करते हैं।

1. मन्द्रादि— सरिगम मगरिस सरिगरि सरिगम रिगमप पमगरि रिगमग रिगमप
2. मन्द्रमध्य— सगरिग मगरिग रिगरिस सरिगम सरिगम, रिमगम पमगम गमगरि रिगमप
3. मन्द्रान्त— सस रिरि गग मग रिग रिस रिरि गग मम पम गम गरि
4. प्रस्तार— स म रि प ग ध म नि ध स, स ध नि म ध ग प रि म स
5. प्रसाद— सरि सरि सरि गरि रिग रिग रिग मग, गम गम गम पम ग म प ध
6. ब्यावृत्ति— स ग रि म स रि ग म, रि म ग प प ग म रि रि ग म प
7. चलित— स ग रि म म रि ग स स रि ग म, रि म ग प प ग म रि रि ग म प
8. परिवर्त्त— स ग म रि, रि म प ग, ग प ध म, म ध नि प, प नि स ध
9. आक्षेप— सरिग रिगम गमप मपध पधनि धनिस
10. बिन्दु— सससरिसग, रिरिरिगरिम, गगगमगप, मममपमध
11. उद्वाहित— सरिगरि, रिगमग, गमपम, मपधप, पधनिध, धनिसनि
12. उर्मि— स ममम सम, रि पपप रिप, ग धधध गध, मनिनिनि मनि
13. सम— सरिगम मगरिस सरिगम, रिगमपपमगरि रिगमप, गमपधधपगगमपध
प्रखित— सस मम, रिरि पप, गग धध, मम निनि, पप सस
14. निष्कूजित— सम सम सरिगम, रिप रिप रिगमप, गध गध गमपध, मनिमनि मपधनि
15. येन— सरि सग सग सप सध सनि सस
रिग रिम रिप रिध रिनि रिस
गम गप गध गनि गस
मप मध मनि मस
पध पनि पस
धनि धस
निस
16. क्रम— सरि रिग गम, रिग गम मप, गम मप पध, मप पध धनि, पध धनि निस

17. उद्धाटित— सग सग सरिगम, रिम रिम रिगमप, गपगप गमपध, मधमधमपधनि
 18. रंजित— सगरिग सरिगम, रिम गमरिगमप, गप मप गमपध
 19. सन्निवृत्ति— सरिग रिगम गरिस रिगम, रिगम गमप मगरिगमप
 20. प्रवृत्त— सस रिरि गग, रिरिगग मम, गगरिरिसस, रिरिगगमम
 21. वेणु— समगम सरिगम, रिपमप रिगमप, गधपध गमपध, मनिधनि मपधपि
 22. ललित स्वर— सस मम गग रिस सरि गरि सरिगम रिरि पप मम गरि रिग मग रिगमप
 23. हुंकार— सस पप रिरि धध गग निनि मम सस
 24. हलादमान— स म ग रि, रि प म ग, ग ध प म, म नि ध प, प स नि ध
 25. अवलोकित— ससस ममम, रिरिरि पपप, गगग धधध, ममम निनिनि, पपप ससस
- इनके अतिरिक्त संगीतज्ञों के और भी सात अलंकार बताए हैं—

1. इन्द्रनील— सरि गम गरि सरि गरि सरि गम, रिग मप मग रिग मग रिग मप
2. महावज्र— सरि गरि सरि सरिगम, रिग मग रिग रिगमप, गम पम गम गम पध
3. निर्दोश— सरि सरि गम, रिग रिग मप, गम गम पध, मप मप धनि, पध पध निस
4. सीर— सरि सरिग सरिगम, रिग रिगम रिगमप, गम गमप गमपध
5. कोकिल— सरिग सरिगम, रिगम रिगमप, गमप गमपध, मपध मपधनि
6. आवर्त्त— सरि गरि सरि सरि सरिगम, रिग मग रिग रिग रिगमप
7. सदानन्द— सरिगम, रिगमप, गमपध, मपधनि, पधनिस।³²

“व्यंकटमखी ने ‘चतुदण्डप्रकाशिका’ में ‘स्वर प्रकरण’ में आठ अलंकारों का उल्लेख किया है। उन्होंने इन अलंकारों को तालबद्ध भी किया है। इनके अलंकार इस प्रकार हैं।

झोम्पट, ध्रुव, मढय, रूपक, झम्पा, त्रिपुठ, अठ, एकतान, अठ, एकताल।

व्यंकटमखी के ये अलंकार, आज भी कर्नाटक संगीत में प्रचलित है।

श्री कंठ ने रस कौमुदी में अलंकारों के प्रकारों का वर्णन न करके केवल अलंकारों से सम्बंधित परिभाषाएँ दी है।

राजा तुलाजी ने संगीत सारामृत में 63 अलंकारों का वर्णन किया है जो शारंगदेव के सदृश है।

उपरोक्त सभी ग्रंथकारों ने वैसे तो अलंकारों का वर्णन किया किन्तु मतंग ने अलंकारों में विकास का कार्य किया और शारंगदेव ने सर्वप्रथम अलंकारों में स्वरलिपि चिन्ह का प्रयोग किया है। मन्द्र स्वर के ऊपर बिन्दु तथा तार स्वर के ऊपर खड़ी रेखा का प्रयोग किया है। संगीत में विकास क्रम में अलंकारों में भी विकास हुआ, और आज वर्तमान संगीत के अलंकारों को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। अलंकारों का संगीत शिक्षा में महत्व तथा रागों में उनके प्रयोग को आज भी सभी संगीतकार एक मत से अपनाते हैं। आधुनिक विद्वानों ने अलंकारों के अतर्गत वर्णाश्रित अलंकारों के साथ—2 मींड, कण, गमक, खटका, मुर्की आदि को भी मान्यता दी है। और कुछ विद्वानों ने तो तान—आलाप का वर्णन भी अलंकारों के अतर्गत किया है।

आधुनिक समय में संगीत में अलंकार के दोनों प्रकार वर्णाश्रित और शाब्दिक प्रचार में है, तथा अनेक ग्रंथों में इन दोनों प्रकारों का वर्णन मिलता है।

वर्णाश्रित अलंकार— वर्णाश्रित अलंकार का तात्पर्य यही है कि सांगीतिक वर्णों को मिलाकर उनका अभ्यास कराया जाता है। अलंकार से स्वर ज्ञान, कंठ साधना, स्वर समुदाय निर्मिति की योग्यता आदि में सहायता मिलती है।

आधुनिक काल में वर्णाश्रित अलंकारों के लिये पल्ले शब्द भी प्रचलित है। पं. भातखण्डे जी ने अलंकार के पर्याय के रूप में पल्ले शब्द का प्रयोग किया है। इन पल्लों अर्थात् अलंकारों को तैयार करने से गले का अभ्यास हो जाता है। प्राचीन संगीत में रागों के अलंकार निर्धारित होते थे, परंतु आजकल ऐसा नहीं है। पर इतना अवश्य है कि विद्यार्थी को संगीत शिक्षण देते समय अलंकारों का अवश्य अभ्यास कराया जाता है।

पं. भातखण्डे जी के अनुसार, “नवीन विद्यार्थियों को गायक जो पल्ले बताते हैं वे भी एक प्रकार के अलंकार ही हैं। ग्रंथों में अलंकार के स्वर समुदायों को निश्चित कर उनका स्वतंत्र नामकरण किया जाता है। इन स्वर समुदायों अर्थात् अलंकारों को तैयार करने से गले की तैयारी बहुत अच्छी होती है। साथ में स्वर ज्ञान भी उत्तम हो जाता है। भिन्न-2 रागों में गाते समय इनका प्रयोग करने से राग वैचित्र्य बढ़ता है।

संगीत में साधना की दृष्टि से अलंकारों का बहुत महत्व है, अलंकारों का उचित स्थान पर तथा राग भाव के अनुसार ही प्रयोग करना चाहिये। अलंकारों के अभ्यास से स्वर ज्ञान शीघ्र हो जाता है, आवाज तीनों सप्तकों में धूमने लगती है। प्रारंभिक विद्यार्थी को भैरव, विलावल जैसे सम्पूर्ण जाति के रागों में अलंकारों का अभ्यास करना चाहिये। प्राचीन काल में भी संगीत शिक्षा में अलंकारों के अभ्यास का महत्व था। कुछ अलंकार इस प्रकार हैं—

1. सारेगम, रेगमप, गमपध, मपधनी, पधनीसां
2. सासा, रेरे, गग, मम, पप, धध, नीनी, सांसां
3. सारेग, रेगम, गमप, मपध, पधनी, धनीसां
4. साग, रेम, गप, मध, पनी, धसां

ये सभी अलंकार यदि तालबद्ध किये जाये तो स्वर के साथ-2 ताल अंग भी पक्का होता है। यही विभिन्न अलंकार आरोही-अवरोही रूप प्राप्त होने पर तानों का रूप ले लेते हैं। आलाप में भी छोटे-2 टुकड़ों में इनके प्रयोग से सुन्दरता उत्पन्न होती है। सादे अलंकारों के अतिरिक्त गमक, मींड, कण, कृन्तन, जमजमा आदि से युक्त भी कुछ अलंकारों का अभ्यास कराया जाता है, जिससे विद्यार्थी का गला संगीत के तकनीकी पक्ष में मँझ जाता है। गायन-वादन दोनों में ही अलंकारों के अभ्यास का महत्व है।

वर्ण, अलंकार, तान और स्वर प्रस्तार सभी राग के विस्तार तत्व में सहायक हैं। अलंकार वर्ण के आश्रित हैं। जब यही अलंकार राग के नियमों में बंधकर गाया जाता है तो उसी को तान कहा जाता है। इस प्रकार तान अलंकार पर आश्रित होती है।

शाब्दिक अलंकार— गमक, मींड, कण, मुर्की इत्यादि शाब्दिक अलंकार कहे जा सकते हैं। आज गमक का हिन्दुस्तानी संगीत में बहुत महत्व है, गमक के 15 प्रकार बताये गये हैं। शारंगदेव के कई गमक प्रकारों में आधुनिक समय में प्रचलित गमक, मींड, आन्दोलन, धसीट, गिटकरी, कम्पन, कण आदि लगभग सभी अलंकारों का वर्णन मिलता है। ये सभी शाब्दिक अलंकार कहे जाते हैं,

इन सभी क्रियाओं से राग को सजाया जाता है। हिन्दुस्तानी संगीत के समान कर्नाटक संगीत में भी अलंकारों का महत्व है।

आधुनिक समय में अलंकार के क्षेत्र में विविध प्रयोग मिलते हैं। पं. भातखण्डे जी ने ग्वालियर धराने की गायकी के ख्याल गायन में द्रुत ताने लेने के पूर्व बहलावे, बराबर की तान, बोलतान, गमक की तान, फिरत की तान आदि को अलंकार कहा है। आधुनिक काल में भी भरत के चार वर्णों पर आधारित अलंकार आज भी सिखाये जाते हैं। भरत ने अपने ग्रंथ में लिखा है, "गद्य, पद्य तथा काव्य में ही नहीं, बल्कि सामान्य बोलचाल में भी अलंकार युक्त वाणी ही अधिक प्रभाव शाली होती है। तथा उचित भावाभिव्यक्ति करती है।

संगीत में अलंकार को अनिवार्य धर्म माना गया है। आचार्य भोज ने लिखा है कि—

अलंकार रहितः विधवैव सरस्वती।

अलंकार विहीन कविता—सरस्वती विधवा की भांति प्रतीत होती है। अलंकारों की कोई सीमा नहीं होती है।

“अनन्ता की वाग्विकल्पा अनन्ता हि अलंकारः।”

अलंकार के कारण संगीत रचना में जो भी कलात्मक विशिष्टता उत्पन्न होती है, उसका प्रभाव अपने में विशिष्ट है, इसी के कारण श्रोता को कलात्मक तृप्ति मिलती है। प्राचीन काल में जिस प्रकार गीति की सुन्दरता अलंकारों में निहित थी, उसी प्रकार आज भी राग को सुन्दर एवं विशिष्ट रूप प्रदान करने में भी अलंकारों का बहुत योगदान है। वर्तमान समय में राग प्रणाली में अलंकारों के प्रयोग, स्थान व महत्व के बारे में भिन्न मत है। कुछ विद्वानों का मत है कि आधुनिक संदर्भ में राग प्रस्तुतीकरण में अलंकार का प्रयोग विशेष महत्व नहीं रखता है। अलंकार तालीम और सुरज्ञान का हिस्सा है, राग का नहीं, क्योंकि अलंकारों का प्रदर्शन दृष्टि से मंचीय उपयोग नहीं है।

अलंकारों का रियाज़ किया जाता है, प्रदर्शन नहीं जबकि कुछ विद्वान का मत है कि राग प्रस्तुतीकरण में अलंकारों का प्रयोग होता है। रागों में तानों के प्रयोग या छोटे—2 स्वर समुदाय द्वारा हम अलंकारों का प्रयोग करते हैं।

भारतीय संगीत में वर्णाश्रित अलंकारों के बिना राग की बढ़त असंभव है, क्योंकि समस्त गायन—वादन वर्णों के अधीन है, इन्हीं वर्ण क्रियाओं को हम अलंकार कहते हैं। वास्तव में अलंकार सजावट के लिये ही नहीं, अपितु राग रूप के यथोचित निर्माण के लिये भी आवश्यक है। शाब्दिक अलंकार का भी राग प्रस्तुतीकरण में अत्याधिक महत्व है, विशिष्ट प्रकृति के रागों में विशिष्ट अलंकारों का प्रयोग किया जाता है जैसे— दरबारी, पूरिया, मुल्तानी, तोड़ी आदि गंभीर प्रकृति के रागों में मींड गमक तथा भैरवी, काफी, पीलू आदि चंचल प्रकृति के रागों में कण, खटका, मुर्की आदि का प्रयोग बहुतायत से होता है।

अलंकारों के कारण संगीत रचना में जो भी कलात्मक विशिष्टता है, इसी के कारण श्रोता को कलात्मक तृप्ति मिलती है। परंतु अलंकार प्रयोग में औचित्य तथा अनुपात का निर्वाह आवश्यक है। अलंकारों के अनुचित प्रयोग अथवा अति—प्रयोग से सौन्दर्य को क्षति हो जाती है, नाट्यशास्त्र में भरत ने लिखा है—

स्थाने आलंकारं कुर्वन्ति ह्यूरसि काश्रिजकां अभ्येत्।

अति बहवोऽलंकारा वर्णविहीनास्तु योक्तव्याः।।

विशिष्ट वरसदंभमलंकारं प्रचक्षते ।।

संगीत रत्नाकर

क्रमेणा स्वर संदर्भमलंकार प्रचक्षते ।।

संगीत पारिजात

अर्थात् विशेष स्वर समूह अथवा क्रमानुसार स्वर समुदाय को ही अलंकार कहते हैं। जिनके योग्य प्रयोग से ही साहित्य की शोभा एवं संगीत में रंजता उत्पन्न होती है।³³

भारतीय संगीत शास्त्र में प्रायः अलंकारों को चार श्रेणी में वर्गीकृत करने का प्रयास किया गया है। जिस प्रकार काव्य में उपमा, अनुप्रास आदि अलंकार, काव्य की शोभा और रंजना बढ़ाने में वृद्धि करते हैं। उसी प्रकार संगीत में अलंकारों का स्थान है। जिसके द्वारा संगीत के सौंदर्य की वृद्धि होती है। उसे अलंकार कहते हैं। जैसे— आँस, मीड, गमक, तान, मूर्च्छना, वाँट, दुगुने प्रभृति।³⁴

अलंकारों का महत्व :

“गायन और वादन में अलंकारों का बहुत महत्व है। क्योंकि स्वरों की पहचान के बाद अलंकारों के द्वारा ही आरंभिक शिक्षा दी जाती है। संगीत का प्रत्येक विद्यार्थी चाहे अलंकार की परिभाषा न बता सके परंतु अलंकारों के कुछ उदाहरण जरूर दे सकेगा। कारण यह है कि उसने अलंकार जरूर सीखे होंगे।

सुन्दरता तत्व बढ़ाने में अलंकारों का विशेष योगदान होता है।

1. अलंकारों के साथ स्वर ज्ञान होता है अर्थात् जब बार-बार स्वरों का अभ्यास करके उनको एक विशेष नियम में बांधकर गाया या बजाया जाएगा तो स्वर और लय ज्ञान अपने आप ही हो जायेगा।
2. अलंकारों के साथ वादन में अंगुलियों का विशेष रखाब और चलन तथा गायन में गले की तैयारी खूब हो जाती है।³⁵

अलंकारों के प्रमुख तत्व :

1. आरोह
2. अवरोह
3. मध्य सा से तार सां तक का (सप्तक) का क्षेत्र
4. खण्डों का विभाजन
5. प्रत्येक खण्ड की विशिष्ट रचना
6. वह राग जिसमें अलंकार गाए अथवा बजाए जाए, वक्र न हो अर्थात् उसमें प्रयोग किए जाने वाले स्वर क्रमानुसार हो।³⁶

अलंकारों से लाभ :

अलंकारों के गायन-वादन से कई लाभ प्राप्त होते हैं:

1. गायन तथा वादन के विद्यार्थियों को नित्य अलंकारों का अभ्यास करने से गले और हाथ का प्रवाह सुरीला व आकर्षक हो जाता है। उंगलियाँ वाद्य पर विभिन्न प्रकारों से धूमने के योग्य हो जाती है।
2. स्वर ज्ञान में बढ़ोत्तरी होती है। विद्यार्थियों की रचनात्मक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलता है।
3. लय-ताल का अच्छा अभ्यास हो जाता है। अलंकारों को द्रुत लय में गाने-बजाने पर तानों में सफाई आ जाती है।
4. राग-विस्तार करने की क्षमता बढ़ती है। नये-नये आलाप व आलंकारिक तानों की रचना में सहायता मिलती है।
5. स्वरों की आपस की दूरी समझने में सहायता मिलती है। स्वरों को उचित स्थान पर गा बजा लेने की क्षमता बढ़ती है।

अतः संगीत के विद्यार्थियों को अलंकारों का उचित रूप से अभ्यास करना चाहिये।³⁷

उपसंहार

अलंकारों का मुख्य उद्देश्य राग के सौन्दर्य को बढ़ाना, राग विस्तार करना, स्वर का सही प्रयोग, आवाज़ लगाने का ढंग, स्वर माधुर्य, विभिन्न क्रमों में स्वरों का अभ्यास कराना है। जिससे कि राग-प्रस्तुत करते समय कहीं भी स्वर-दोष न उत्पन्न हो। यदि इन अलंकारों का अभ्यास कराये बिना सीधे राग शुरू कराए जाएं तो राग का प्रस्तुतिकरण कदापि सम्भव नहीं होगा। इसी प्रकार से राग में सीधे स्वर लगाने के बजाय यदि राग-भावानुसार उन्हें गमक, मींड आदि से सजाकर प्रस्तुत किया जाए तभी राग की 'रञ्जयते इति रागः' परिभाषा सार्थक होगी। आज कलाकार इन अलंकारों का प्रयोग बड़ी खूबी के साथ संगीत में कर रहे हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि वर्णाश्रित अलंकारों का प्रयोग रागों में नहीं किया जाता वे सिर्फ रियाज़ की चीजें हैं

जबकि अधिकतर विद्वान अलंकारों को राग का एक आवश्यक अंग मानते हैं तथा राग बद्ध में इनकी अनिवार्यता स्वीकार करते हैं।

अंततः यह कहा जा सकता है कि अलंकार जैसे क्रियात्मक तत्व का संगीत में स्थान सर्वोपरि है इनका संतुलित तथा समझदारीपूर्ण प्रयोग संगीत को सदैव लाभान्वित करता रहा है और करता रहेगा।³⁸

4.3 छंद एवं संगीत

छंद शब्द की उत्पत्ति दो धातुओं से मानी गई है। एक तो 'चंदि' जिसका अर्थ है आहाल्दकारी और दूसरा अर्थ 'छदि' जिसका अर्थ है चमकाने वाला, अथवा प्रसन्नता पैदा करने वाला। छन्द शब्द के ये दोनों अर्थ ही वैदिक मंत्रों और ऋचाओं के लिये प्रयुक्त हुये। दूसरे शब्दों में छन्दस् शब्द 'छद' धातु से बना है इसका धातुगत व्युत्पत्ति मूलक अर्थ है— 'जो अपनी इच्छा से चलता है। अतः छंद शब्द के मूल में गति का भाव है। धीरे-धीरे कालान्तर में छन्द शब्द का प्रयोग वैदिक वाङ्वाय के लिये होने लगा। महर्षि पाणिनी ने वेद मंत्र के लिये छंद शब्द का प्रयोग किया है। छंद की परिभाषा विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई है। जो इस प्रकार है।

“नियम संख्या वाली मात्राओं का वर्णों से युक्त निश्चित संख्या की पंक्ति अथवा पद, जो भी हो, उस शब्द की रचना को छंद या वृत्त कहते हैं।”
मनुष्य की वाणी से जो कलात्मक रचना की जाती है, उसे भी छंद माना जा सकता है। छन्द को इस प्रकार भी परिभाषित किया गया है।

“छंद वह लयात्मक, नियमित तथा अर्थपूर्ण वाणी है। जिसमें आबद्ध होकर कोई वाक् (वाणी) पद का रूप धारण कर लेता है।”

छंद की गणना वेद में छः अंगों में होती है। इसे वेद का चरण बताया गया है। ‘छंदः पादौ तु वेदस्य’ भारतीय वाङ्मय के साथ छंद का इतिहास जुड़ा हुआ है। सूक्त प्रतिशाख्य में छंद ऋषि की उत्पत्ति की कथा दी गई है। जो इस प्रकार है कि सातों वैदिक छंदों के कारण प्रजापति देव एवं असुर के संयोग से छंद ऋषि की उत्पत्ति हुई इस कथा का निष्कर्ष यही है कि वैदिक वाङ्मय के साथ छंद का अभिन्न संबंध है।

वैदिक वाङ्मय अर्थात् चारों वेद ब्राह्मण ग्रंथ उपनिषद्, शिक्षा, ग्रंथ, संहिता ग्रंथ, प्रतिशाख्य ग्रंथ आदि सभी छंदोमय है। वैदिक और लौकिक संगीत, गंधर्व, मार्गी और देशी सभी में छंदों का प्रयोग है। छः शास्त्रों के मूल ग्रंथ, उपवेद ग्रंथ, पुराण ग्रंथ, इतिहास, महाभारत और रामायण तथा अन्य काव्य और कथा ग्रंथ सभी छंदों में ही लिखे गये हैं।

वैदिक काल से लेकर ईसा के जन्म काल तक सैकड़ों ग्रंथों की रचना भारतवर्ष में छंदों के आधार पर ही हुई है। भारतीय संहिता का समस्त भण्डार छंदोबद्ध होने के कारण ही आज तक सुरक्षित रह सका है, क्योंकि छन्दोबद्ध रचना ही गुरु शिष्य परम्परा में कण्ठस्थ रह सकती है। शिष्यगण शताब्दियों पूर्व से छंदोबद्ध रचनाएँ गुरुओं से प्राप्त करते थे और उनको रह कर भावी पीड़ियों तक के लिये सुरक्षित रखते थे। छंद शास्त्र का धीरे-धीरे विकास हुआ। वैदिक और लौकिक छन्द बनें। छन्द को अनेक रूपों में परिभाषित करने की चेष्टा की गई है।

भरत ने छंद को प्रकार परिभाषित किया है।—

“छन्दोक्षरपदानां हि समत्वयत्प्रकीर्तिनम्।

अर्थात् निश्चित संख्या वाले अक्षरों के द्वारा जो रचना की जाये उसे छन्द कहते हैं। कुछ नियमों के अधीन होकर जो शब्द रचना की जाती है, उसको छंद कहते हैं।

हिन्दी काव्य में छंद को इस प्रकार परिभाषित किया गया है।

“छंद वह बेसरी ध्वनि है जो प्रत्यक्षीकृत निरंतर तरंग भंगिमा से आल्हाद के साथ भाव और अर्थ की अभिव्यंजना कर सके।”

- आचार्य पं. रामचन्द्र शुक्ल छंद को परिभाषित करते हुये लिखते हैं—
“छोटी-छोटी सार्थक ध्वनियों के प्रवाहपूर्ण सामंजस्य का नाम छंद है”

- डॉ० जगदीश गुप्ता ने छंद की परिभाषा “हिन्दी साहित्य कोष” में इस प्रकार की—
“अक्षर, अक्षरों की संख्या एवं क्रम, मात्रा, मात्रागणना तथा यति गति आदि से संबंधित, विशिष्ट नियमों से नियोजित पद रचना छंद कहलाती है।”

काव्य एवं संगीत विद्या के लिये उपयुक्त शब्दों की लययुक्त व्यवस्था का नाम ही छंद है। छंद का मूल लक्षण लयबद्धता है। जहाँ लय नहीं वहाँ छंद असंभव है। “लयाधारोछन्दः” अर्थात् छंद लयाश्रित होता है। लय ही छंद का प्राण है।

छंद को सामान्यतया इस प्रकार परिभाषित करते हैं—

“काव्य वाणी व्यापार के अंतर्गत प्रतीतियुक्त तथा विश्लेषगम्य लय का नाम ही छंद है।”
लयाश्रित छंद को आई.ए.रिसर्डस इस प्रकार परिभाषित करते हैं।

“More specialised form of temporary rhythmic sequence which is known as metre.”

हिन्दी का छंद शास्त्र इतना विराट है, कि उससे बाहर किसी नये छंद की रचना करना संभव नहीं है। इसीलिये समकालीन गीतिकाव्य में जब छन्द की बात की जाती है तो, उसका आशय उपादानों और परिवर्तन से होता है, जिसके कारण गीतों में प्रयुक्त छन्दों में नवीनता का आभास होता है। गीतकार विविध तरीके अपनाकर छान्दसिक नवीनता का बोध कराता है जब कि छन्द उसमें वही होता है जो छन्द शास्त्र की सीमा में आते हैं।

“छंद वस्तुतः एक ध्वनि समष्टि है। छोटी-छोटी बड़ी ध्वनियां जब एक व्यवस्था के साथ सामंजस्य प्राप्त करती हैं तब उसे एक शास्त्रीय नाम छंद दे दिया जाता है जब मात्रा अथवा वर्णों की संख्या, विराम, गति, लय तथा तुक आदि के नियमों से युक्त कोई रचना होती है। उसे छंद अथवा पद कहते हैं, इसी को वृत्त भी कहा जाता है। छंद को पद रचना का मापदण्ड कहा जा सकता है। बिना कठिन साधना के कविता में छंद योजना को साकार नहीं किया जा सकता।”³⁹

संगीत को व्यवस्थित करने के लिये, स्थायित्व प्रदान करने के लिये जिस तरह ताल प्रयुक्त होता है उसी तरह काव्य को स्थायित्व और आधार प्रदान करने लिये छंद प्रयोग होता है। यही कारण है कि हमारे धर्म ग्रंथ शास्त्र आदि सभी छंदोबद्ध हैं। छंद भाषा को गति प्रदान करता है। स्वरों को गति प्रदान करने वाला तत्व ताल है। संगीत में जब स्वरों को गति प्रदान करने वाला तत्व ताल है। संगीत में जब स्वरों को ताल का सहारा मिलता है। तब वही स्वर उल्लासित और उत्तेजित होकर आनंद प्रदान करता है।

संगीत के गायन-वादन में नित्यप्रति छंदों का प्रयोग निरर्थक शब्दों के द्वारा भी होता है और आनन्द दायक भी होता है। तराना व तेनक निरर्थक शब्द की गेय रचना है। जो किसी भी छंद में बंधी हुई हो सकती है। सितार के श्रेष्ठ वादक अपने आघात मात्र से ही कितने ही छंदों का प्रदर्शन करते हैं। और उनकी यह कृति आकर्षण होती है।

संस्कृत साहित्य में छंदों का विकास गणात्मक क्रम में हुआ। यह प्रारंभ में अक्षरात्मक ही रहा है, किन्तु भरत के नाट्यशास्त्र में नियमों को देखकर पता चलता है कि छंद का गणात्मक रूप धीरे-धीरे लयात्मक होकर विकसित हुआ है। संस्कृत में कई प्रकार के छंद मिलते हैं जो वैदिक काल के जितने प्राचीन हैं। वेद के सूक्त भी छंदोबद्ध हैं। पिङ्गल द्वारा रचित छंदशास्त्र इस विषय का मूल ग्रंथ है।

वाक्य में प्रयुक्त अक्षरों की संख्या एवं क्रम, मात्रा-गणना तथा यति-गति से संबंध विशिष्ट नियमों से नियोजित पद्य रचना ‘छंद’ कहलाती है। छंद की सबसे पहले चर्चा ऋग्वेद में हुई है। यदि गद्य की कसौटी ‘व्याकरण’ है तो कविता की कसौटी ‘छंदशास्त्र’ है। पद्य रचना का समुचित ज्ञान छंदशास्त्र की जानकारी के बिना नहीं होता काव्य और छंद के प्रारंभ में ‘अगण’ अर्थात् अशुभ गण नहीं आना चाहिए।

मात्रा विधान

छंद शास्त्र में मात्रा का परिमाण लघु गुरु से जाना जाता है, जिनके लिये ह्रस्व तथा दीर्घ दो प्रकार के स्वरों (अथवा व्यंजनों) का नाम दिया गया, इन्हीं के स्थान पर छंदशास्त्र में क्रमशः लघु तथा गुरु शब्दों का प्रयोग होता है।

लघु वर्ण एक मात्रा का परिचायक है जैसे अ, ३, ३, क, च आदि। इसका संकेतिक रूप खड़ी पाई (l) बताया गया है। गुरु वर्ण दो या दो अधिक मात्रा का परिचायक है जैसे आ, ई, ऊ, का, चा आदि। इसका सांकेतिक रूप अंग्रेजी अक्षर एस (S) बताया गया है। जो वर्ण लघु होता है। उसे 'ह्रस्व' स्वर और जो वर्ण गुरु होता है, उसे दीर्घ स्वर कहते हैं। यदि लघु और गुरु वर्णों को एक साथ रखा जाए तो समन्वित रूप से वे तीन मात्राओं तथा तीन अक्षरों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं।

संगीत शास्त्र में भी गुरु लघु के आधार पर ही विविध छंदों का निर्माण होता है, संगीत में 'प्लुत' का प्रयोग भी होता है।

विद्वानों के अनुसार छंद निर्माण संगीत की लय के आधार पर हुआ है। साहित्यिक छंद में लघु गुरु के अक्षर नियम का क्रम है, जबकि संगीत में छंद में लघु-गुरु क्रम के साथ 'प्लुत' का भी प्रयोग है।

भरत नाट्यशास्त्र में भरत ने तत् वाद्यों की दाएँ-बाएँ हाथ की क्रियाओं को 'धातु' कहा है और धातु के चार प्रकार माने हैं—

1. विस्तार धातु
 2. करण धातु
 3. आविद्ध धातु
 4. व्यंजन धातु
- इनमें आविद्ध धातु में लघु गुरु क्रम के साथ प्लुत का प्रयोग होता है।

छन्द रचना के पारिभाषिक शब्द पाद या चरण

छन्द की प्रत्येक पक्ति को पाद या चरण कहा जाता है। हिन्दी के छंद दो चरणों से लेकर छः चरणों तक के होते हैं। दोहा में दो चरण एवं छप्पय में छः चरण-छंद के लघुत्तम एवं ब्रह्मत्तम छंद के उदाहरण माने जा सकते हैं।

छंद के अंग—

छंद के निम्नलिखित अंग होते हैं।

- **गति**— पद्य के पाठ में जो बहाव होता है उसे गति कहते हैं।
- **यति**— पद्य पाठ करते समय गति को तोड़कर जो विश्राम दिया जाता है उसे यति कहते हैं।
- **तुक**— समान उच्चारण वाले शब्दों के प्रयोग को तुक कहा जाता है। पद्य प्रायः तुकान्त होते हैं।
- **मात्रा**— किसी भी ध्वनि के उच्चारण में काल की लघुत्तम ईकाई को मात्रा कहा जाता है। दूसरे शब्दों में वर्ण के उच्चारण में जो समय लगता है उसे मात्रा कहते हैं। जैसे— 'क' काल की लघुत्तम ईकाई के कारण लघु कहा जाता है। इससे अधिक उच्चारण काव्य होने

के कारण दीर्घ कहा जाता है। जैसे— 'आ' इसके लिये चिह्न इस प्रकार है। मात्रा दो प्रकार की होती है।

लघु— ह्रस्व उच्चारण वाले वर्णों की मात्रा लघु होती है। लघु मात्रा का मान 1 होता है और उसे | चिह्न से प्रदर्शित किया जाता है।

गुरु— दीर्घ उच्चारण वाले वर्णों की मात्रा गुरु होती है। गुरु मात्रा का मान 2 होता है और उसे S प्रदर्शित किया जाता है।

- **गण**— मात्राओं और वर्णों की संख्या और क्रम की सुविधा के लिये तीन वर्णों के समूह को एक गण मान लिया जाता है। गणों की संख्या 8 है—

यगण (|SS), मगण (SSS), तगण (SS|), रगण (S|S), जगण (|S|), भगण (S||), नगण (|||), सगण (||S) ।

गणों को आसानी से याद करने के लिये एक सूत्र बना लिया गया है— यमाताराजभानसलगा। सूत्र के पहले आठ वर्णों में आठ गणों के नाम हैं। अंतिम दो वर्ण 'ल' और 'ग' छन्दशास्त्र के दग्धाक्षर हैं। जिस गण की मात्राओं का स्वरूप जानना हो उसके आगे के दो अक्षरों को इस सूत्र से ले लें जैसे 'मगण' का स्वरूप जानने के लिये 'मा' तथा उसके आगे के दो अक्षर— 'ता रा' मातारा (SSS) ।

'गण' का विचार केवल वर्ण वृत्त में होता है मात्रिक छन्द इस बंधन से मुक्त होते हैं।

| S S S | S | | | S

य मा ता रा ज भान स ल गा

गण	चिह्न	उदाहरण	प्रभाव
यगण (य)	SS	न्हाना	शुभ्
मगण (मा)	SSS	टाजादी	शुभ्
तगण (ता)	SS	चलाक	अशुभ्
रगण (रा)	S S	पलना	अशुभ्
जगण (ज)	S	करील	शुभ्
भगण (भा)	S	बदल	शुभ्
नगण (न)		कमल	शुभ्
सगण (स)	S	कमला	अशुभ्

- **वर्ण**— एक सम्पूर्ण ध्वनि को वर्ण की संज्ञा दी जाती है। वर्णिक छंद में इन वर्णों को मूलाधार के रूप में स्वीकार किया गया है। इसमें ह्रस्व एवं दीर्घ का ध्यान नहीं दिया जाता।

छंद के भेद

“छंद के दो भेद माने गये हैं।

1. मात्रिक छंद
2. वार्णिक छंद

- मात्रिक छंद उसे कहते हैं जो मात्रा गणों के सहारे लिखा जाता है।

- वार्षिक छंद के गण तीन-तीन अक्षर के तथा आठ प्रकार के होते हैं। मात्रिक छंद चार-चार मात्रा के तथा पांच प्रकार के होते हैं, मात्रिक छंद को तकनीकी तौर पर जाति तथा वार्षिक छंद को वृत्त भी कहते हैं।

मात्रिक छंद

- **सम मात्रिक छंद**— जिन छंदों में चारों चरणों में मात्राओं की संख्या तथा उनका नियोजन क्रम समान हो, उन्हें सम मात्रिक छंद कहा जाता है। जैसे— चौपाई।
- **विषम मात्रिक छंद**— जिनके चरणों की मात्राएं समान न हों उन्हें विषम मात्रिक छंद कहा जाता है। जैसे— भार्या।
- **अर्ध सममात्रिक छंद**— जिन मात्रिक छंदों के 'सम-सम' एवं 'विषम-विषम' चरणों की मात्राएं समान हो, उन्हें अर्ध मात्रिक छंद कहा जाता है। जैसे— सोरठा।

वार्षिक छंद

- **समवृत्त**— जिसके चारों चरण एक जैसे हो, एक समान लक्षण वाले हो।
- **अर्ध-समवृत्त**— जिसके प्रथम एवं तृतीय चरण एक जैसे हो तथा द्वितीय एवं चतुर्थ एक जैसे हो।
- **विषम वृत्त**— जिसके चारों चरण परस्पर भिन्न हो।

छंद के कुछ प्रकार

- **दोहा**— दोहा मात्रिक छंद है। दोहे के चार चरण होते हैं। इसके विषम चरणों (प्रथम तथा तृतीय) चरण में 13-13 मात्राएँ और सम चरणों (द्वितीय तथा चतुर्थ) चरण में 11-11 मात्राएँ होती हैं। सम चरणों के अंत में एक गुरु और एक लघु मात्रा का होना आवश्यक होता है।

उदाहरण—

मुरली वाले मोहना, मुरली ने बजाय।

तेरो मुरली मन हरो, धर अँगना न सुहाय।।

- **रोला**— रोला मात्रिक सम छंद होता है। इसके विषम चरणों में 11-11 मात्राएँ और सम चरणों में 13-13 मात्राएँ होती हैं।

उदाहरण—

यही सयानो काम, राम को सुमिरन कीजै।

पर स्वारथ के काज, शीश आगे धर दीजै।।

- **सोरठा**— सोरठा मात्रिक छंद है और यह दोहा का ठीक उल्टा होता है इसके विषम चरणों चरण में 11-11 मात्राएँ और सम चरणों (द्वितीय तथा चतुर्थ) चरण में 13-13 मात्राएँ होती हैं। विषम चरणों के अंत में एक गुरु और एक लघु मात्रा का होना आवश्यक होता है।

उदाहरण—

जो सुमिरत सिद्ध होय, गननायक करिबर बदन।

करहु अनुग्रह सोय, बुद्धि रासि सुभ गुन सदन।।

- **चौपाई**— चौपाई मात्रिक छंद है। इसके प्रत्येक चरण में 16—16 मात्राएँ होती हैं।

उदाहरण—

बंदऊँ गुरु पद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा।।
अमिय मूरिमय चूरन चारु। समन सकल भव रूज परिवारु।।

- **कुण्डलिया**— कुण्डलिया मात्रिक छंद है। दो दोहों के बीच एक रोला मिला कर कुण्डलिया बनती है। पहले दोहे का अंतिम चरण ही रोले का प्रथम चरण होता है तथा जिस शब्द से कुण्डलिया का आरंभ होता है, उसी शब्द से कुण्डलिया समाप्त भी होता है।

उदाहरण—

कमरी थोरे दाम की, बहुतै आवै काम।
खासा मलमल वापता, उनकर राखै मान।।
उनकर राखै मान, बँद जहँ आड़े आवै।
बकुचा बाँधे मोट, राति को झारि बिछावै।।
कह 'गिरिधर कविराय', मिलत है थोरे दमरी।
सब दिन राखै साथ, बड़ी मर्यादा कमरी।।

छंद का मूल लक्षण लयबद्धता है। जहाँ लय नहीं, वहाँ छंद असंभव है, फिर भी केवल लय ही छंद नहीं है। हास्व—दीर्घ या लघु गुरु इकाईयों के आधार पर लय का एक निश्चित या विशेष आकार बनने पर छंद के स्थूल रूप का निर्माण होता है। लय का प्रयोजन काल का नियमित विभाजन मात्र है जबकि छंद का प्रयोजन विभाजित काल को निश्चित स्वरूप व आकार जैसे ध्वनि का अव्यक्त रूप छंद कहा जा सकता है। इस दृष्टि से लय छंद की अपेक्षा सूक्ष्म है। लय के बिना संगीत की सत्ता तो असंभव है ही, छंद निष्प्राण है। यही लय जब निश्चित स्वरूप में व्यक्त होती है। तो छंद की उत्पत्ति होती है, सार्थक शब्द हो या न हो।

भरत ने वीणा वादन की धातुओं के रूप में आधातों के जो प्रकार कहे हैं, और जिनके लघु गुरु क्रम भी निदिष्ट किए हैं, उनके आधार पर हम उनमें से कुछ में विभिन्न छंदों के प्रमाण प्रस्तुत कर रहे हैं। साथ ही सितार के समकक्ष बोल भी दे रहे हैं।

धातु का नाम	लघु गुरु क्रम	छंद का नाम	आज के बोल
रिभित	s	रजनी	दिर दा
उच्यय	s	कमलमुखी	दिर दिर दा
नीरटित	s	चपला द्रुतगति	दिर दिर दिर दा
ह्लाद	s	मणि गुण निकरकृता	दिर दिर दिर दिर दा

मात्रिक खण्डों के आधार पर छंद के रूप निम्न सरगमों में—

त्रिमात्रिक— नि स नि, स ग स, ग म ग, म ध म, ध नि ध।

चर्तुमात्रिक— नि स ग स, स ग म ग, ग म ध म, म ध नि ध।

पंच मात्रिक— नि स ग म ग, स ग म ध म, ग म ध नि ध, म ध नि सां नि।

षष्ट मात्रिक— नि स ग म ग स, स ग म ध म ग, ग म ध नि ध म, म ध नि सां नि ध।
छंद रचना में स्वरों की माप ताल की जाती है, स्वर सहित व्यंजनों की नहीं। ये दोनों क्रिया मापक है जिस तरह ताल संगीत को अमरत्व प्रदान करता है। छंद बद्ध वाणी इतनी रंजक हो जाती है कि कभी—2 वह लोक वाणी की संज्ञा प्राप्त कर लेती है।

जहां सुमति तहां सम्पत नाना।

जहां कुमति तहां विपत्ति निदाना।।

छंद : ताल और संगीत का संबंध—

छंद वर्ण पर आधारित है। लेकिन ताल हाथ अथवा वाद्य की क्रियाओं पर। इसलिये भरत ने ताल को धनवाद्य से अभिन्न रूप में समझाया—

वाद्य तु यद्धनं प्रोक्तं कलापातलयान्वितम् ।

कालस्तस्य प्रमाणं हि विज्ञेयं तालयोगतः।।

काव्य में छंद के अनुसार क्रियाएं भी की जाएं तो ताल बन जायेगा। और संगीत में यदि क्रिया रहित लघु गुरु क्रम मात्र रहे तो वह छंद ही कहलायेगा।

वाणी मनुष्य की चित्तवृत्ति की अभिव्यंजिका है। जैसे चित्तवृत्ति के अनुसार मनुष्य के पैरों की गति में अंतर आता है। उसी प्रकार वाणी की गति भी बदलती जाती है। हर्ष के आवेग में स्वर ऊंचा होने के साथ—2 उच्चारण की गति भी बढ़ जाती है। और चाल भी तेज हो जाती है। निराशा के क्षणों में उच्छ्वसित ध्वनि और मन्द्र स्वरों के साथ शब्दों की व पैरों की गति भी धीमी रुक—2 कर चलने वाली होती है। सामान्य वाग्यवहार में भाव के अनुसार ही हमेशा गतिभेद होता है। मनुष्य की चित्तवृत्ति को कलात्मक और परिमार्जित रूप में व्यक्त करने का माध्यम काव्य है और दूसरा संगीत। छंद काव्यात्मक वाणी को और ताल नादात्मक वाणी को गति प्रदान करते हैं। इसलिये चित्तवृत्ति की गति का अनुसरण करके ही वाणी प्रवृत्त होती है। विभिन्न गतियों काव्य में छन्द योजना तो भाव के अनुरूप होनी ही चाहिये, स्वर ताल योजना अर्थात् गेय का चयन भी भाव के अनुकूल हो तो फिर रसानुभूति में कोई संदेह नहीं रह जाता। पद और छंद रस—भाव के अनुरूप हो और राग—ताल की योजना उचित न हो तो रसानुभूति नहीं हो सकती।⁴⁰

छंद के प्रसंग में भरत का एक बहुत सार—गर्भ बचन है कि कोई शब्द छन्दोहीन नहीं होता और कोई छंद शब्द हीन नहीं।

“छंदोहीन न शब्दोऽस्ति नच्छन्दः शब्द वर्जितः”

ऐसी कोई ध्वनि नहीं जिसका कोई कालमान या छंद न हो और कोई छंद नहीं जो ध्वनि के बिना सुव्यक्त हो सकता हो, किसी भी गति की लय का प्रत्यक्ष तब तक स्फुट नहीं होता जब तक गति का संयोग ध्वनि के साथ न हो। केवल दृश्य गति अपने ‘छंद’ को सुव्यक्त नहीं कर सकती।⁴¹

छंद एक प्रकार का प्राचीन संगीत है। यह ध्रुपद का पूर्व रूप है। यह भी छंद—प्रधान है, और इस प्रकार के गान में ‘छंद’ शब्द का उल्लेख रहता है। नायक गोपाल इसके रचयिता है।⁴² संगीत में छन्द मात्र वह तत्व नहीं; जो धुन का सौंदर्य बढ़ाता है। बल्कि वह स्वर कल्पना की एक महत्वपूर्ण शक्ति है। अतः छंद के लिये कहा जाता है। कि छंद धुन के विश्व का स्पन्दन है। रविन्द्रनाथ ठाकुर ने छंद के संबंध में कहा है—‘यह एक चैतन्यमय गति है, जो समस्त स्वर

प्रबन्धनों से उत्पन्न होती है और नियमित होती है। यह कलाकार की रचनात्मक शक्ति है और नियमित होती है। यह कलाकार की रचनात्मक शक्ति है जब तक अक्षर छंद विहीन गद्य रूप में रहते हैं, तब तक वे यथार्थता की वास्तविक अभिव्यक्ति प्रदान नहीं करते। जब उन्हें छंद में बांध दिया जाता है, तब चैतन्यमय आंदोलन की सृष्टि करते हैं।

जिस प्रकार भिन्न-2 तालें भिन्न-2 रसों की उत्पत्ति करती हैं, उसी प्रकार भिन्न-2 रसों से भिन्न-2 छंद की उत्पत्ति होती है। जो स्थान ताल में सम का है, वही छंद में तुक का होता है। जैसे राग में वादी-संवादी पर ठहर कर उस राग को व्यक्त करते हैं। वैसे ही वाणी रूपी राग के तुक की पुंरावृत्ति स्पष्ट तथा भय युक्त होती है। छंद विधान से लय का संचार होता है। संगीत के लय, ताल एवं काव्यों के छंद में कोई अंतर नहीं होता। छंद के समान तालों के भी दो भेद हैं।

1. **मार्गदेशी ताल**— इनमें लघु गुरु आदि इकाई निश्चित और अपरिवर्तनीय है।

2. **वर्तमान लय**— इनमें मात्रा संख्या व उनके विभाजन का नियम होता है, लघु गुरु का अस्तित्व नहीं। मार्ग तालों में चचत्पुट नामक ताल का स्वरूप SS|S है, इसीलिये इसमें भी क्रियाएं इसी मात्रा से की जायेगी। कुल मिलाकर 8 मात्रा के रूप में नहीं। ताल में छंद का स्वरूप मुख्यतः दो रूपों में दिखता है।

- विभिन्न तालों की रचनाओं में
- विभिन्न बोलों की रचनाओं में

निश्चित मात्रा को भिन्न-2 भागों में विभाजित करने पर वह विभिन्न प्रकार के तालों में परिणित हो जाती है। और उन सभी तालों का स्वरूप स्वतंत्र हुआ करता है। जैसे

धमार ताल में 14 मात्राएं होती हैं जिसका मात्रा विभाजन इस प्रकार है।

मात्रा: 1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12 13 14

ठेका: का धि ट धि ट धा S ग ति टति ट ता S

ताल: X 2 0 3

आड़ाचौताल भी 14 मात्रा का होता है परंतु विभाजन सात समान भागों में ही किया जाता है।

मात्रा: 1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12 13 14

ठेका: धीं तिरकिट धी ना तू ना क ता तिरकिट धी ना धीं धीं ना

ताल: X 2 0 3 0 4 0

झूमरा ताल भी 14 मात्रा का होता है। परंतु विभाजन में भिन्नता के कारण उसका छंद अन्य सभी समान मात्रा के तालों से भिन्न ही होता है।

मात्रा: 1 2 3 4 5 6 7 8 9 10

ठेका: धीं -धा तिरकिट धीं धीं धागे तिरकिट तीं -ता तिरकिट

ताल: X 2 0

11 12 13 14

धीं धीं धागे तिरकिट

3

दीपचन्दी ताल में भी 14 मात्राएं होती हैं। और उनके असमान चार भाग होते हैं।

मात्रा: 1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12 13 14
 ठेका: धा धीं S धा गे तिं S ता तीं S धा गे धीं S⁴³
 ताल: X 2 0 3

“प्रथम रूप में ताल और छंद के मात्रा खण्डों में पूर्ण साम्य रहता है जैसे हरिगीतिका नामक मात्रावृत में कुल 28 मात्रायें हैं। और उन्हीं 3-2-2 के क्रम से 7-7 मात्राओं के खण्ड बनते हैं इसी प्रकार रूपक, तीव्रा, धमार से भी 3-2-2 के खण्ड बनते हैं। लेकिन कभी-2 कुल मात्रा संख्या के अतिरिक्त तालों की मात्रा, खण्डों की अपेक्षा विशिष्ट मात्रा पर बल के अनुसार छंद के साथ संबंध देखना पड़ता है। जैसे कहरवा में 4-4 मात्राओं के खण्ड के कुल 8 मात्राएँ होती हैं। लेकिन उसके ठेके के बोल में बजन 1-5 पर न होकर 1-3-7 पर होता है। जैसे—
 धा गे न ति न क धिं। इसलिये 3-3-2 के खण्ड बनते हैं लेकिन न न ग (नगण, नगण, गुरु= |||||S) लक्षण वाला द्रुतगति या चपला छंद इस ताल के अधिक नजदीक है।

अतः काव्य और संगीत तथा छंद और ताल का धनिष्ट संबंध है कुछ विशेष तत्व जो ताल और छंद दोनों के निर्माण में सहायक हैं इस प्रकार हैं—

ताल के आवश्यक तत्व	छंद के आवश्यक तत्व
1. काल— ताल की क्रिया समय नियत में ही होती है।	समय के अंदर ही छंद की क्रिया होती है।
2. गण— तालों का निर्माण करते हैं।	छंद का निर्माण करते हैं।
3. लघु गुरु— ताल के निर्माण में सहायक	छंद के निर्माण में प्रयोग होता है।
4. लय— ताल में लय का प्रयोग होता है।	छंद में भी लय का प्रयोग होता है।
5. विराम— ताल में प्रयोग होता है।	छंद में विराम का विशेष स्थान है।
6. यति	
7. प्रस्तार	

इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि ताल और छंद का संबंध प्रारंभिक काल से चला आ रहा है। प्राचीन काल और मध्यकाल के संगीत के आचार्य साहित्य के पूर्ण रूप से ज्ञाता होते थे, 18 वीं शताब्दी के सदारंग जैसे संगीत के मूर्धन्य कलाकार ने भी संगीत और साहित्य की शिक्षा ली थी, और जितने भी संगीत विषयक ग्रंथ लिखे गये वे सब कविता की भाषा में लिखे गये, इसलिये विभिन्न प्रबन्धों, अष्टपदियों और स्फुटों की रचना तालों पर हुई। प्रबंध गायकी का जब ह्यस हुआ और ध्रुपद गायकी का जब विकास हुआ, उस समय श्रेष्ठ ध्रुपदों की रचना उसी छंद में की जिसका नाम है— धनाक्षरी। बाद में हिन्दी भाषा के कवियों ने भी अपने पक्षों की रचना इसी छंद में की। इस प्रकार ताल और छंदों का अन्योन्याश्रित संबंध है।”

“अरुण कुमार सेन लिखते हैं कि साहित्य में छंद एवं संगीत में ताल का जन्म स्वाभाविक रूप से हुआ होगा। छंद को गेय रूप देने के लिये छंद के अनुकूल ही उचित ताल का प्रयोग

किया जाता है। जैसे—16 मात्राओं के साथ तीनताल, कहरवा, तिलवाड़ा आदि तालों का प्रयोग उचित रहेगा। छंद को ताल में ठीक बैठाने के लिये अभी—2 मात्राओं को धटाना या बढ़ाना भी पड़ता है। परन्तु ज्यादा खींचतान से छंद के उच्चारण में अंतर आ जाता है। फलस्वरूप पेशकार छंद में पेश की जाने वाली भावना को पेश करने में असफल हो जाता है।⁴⁴

संगीत में लय एवं ताल के द्वारा छंद वैचित्र्य

1. लयगति में परिवर्तन— लय की विभिन्नता ही स्वर में विभिन्न चालें उत्पन्न कर सकती है। स्वर यदि एक ही लय से चले तो उसमें विभिन्नता नहीं आ सकती। संगीत—छंद या ताल में लय—गति परिवर्तन के अनेक प्रकार हैं, जैसे— ड्योढ़ी, सवाई, पौने दोगुनी व दुगुनी लयगतियों का प्रयोग संगीत में होता है, इन्हीं को आड़ी, कुआड़ी एवं बिआड़ी लय कहा जाता है, जिसमें संगीत में छंद वैचित्य का प्रदर्शन होता है।

2. मात्राओं के विराम— विराम से तात्पर्य विश्रान्ति से है। स्वर को उत्पन्न करना और गति प्रदान तत्पश्चात् उचित समय पर विश्रान्ति देना ही एक मात्र राग में रंजकता उत्पन्न करना है। इसके लिये लय, मात्रा, काल एवं एक विशेष मापदण्ड ताल की आवश्यकता है। तबला, मृदंग आदि में जो दमदार या वेदमदार छंदों का प्रयोग होता है, उनका आधार भी विराम ही है।

3. ताल धातों में परिवर्तन— कुशल गायक जिस प्रकार रागों का तिरोभाव एवं आविर्भाव करके रसिक श्रोताओं को आनन्दित करते हैं, उसी प्रकार कुशल तालज्ञ तालों का भी तिरोभाव, आविर्भाव करके श्रोताओं को लय वैचित्र्य का आनंद प्रदान करते हैं। तालाघात में परिवर्तन से तात्पर्य जैसे झपताल के धातक्रम 2/3/2/3 को बदलकर 3/2/3/2 का अस्थायी रूप से प्रादुर्भाव किया जाए तो लय वैचित्र्य होगा।

4. अक्षरों के उच्चारण का स्थायित्व— किसी—2 अक्षर को अधिक काल तक स्थिर रखते हुए मींड या गमक के द्वारा अक्षर को कौशलपूर्ण तरीके से दीर्घता देते हुए भी छंद वैचित्र्य का प्रदर्शन संगीत में होता है। जैसे—राग मारुविहाग का छोटा ख्याल 'कल नाऽऽ परेऽ' में 'रे' के अवग्रह को दीर्घ करके या अवग्रह हीन करके या सम के स्थान को बदलकर छंद वैचित्र्य का निर्माण किया जाता है।

5. उच्चारण की प्रबलता एवं दुर्बलता— उच्चारण शैली में अंतर करने पर भी छंद वैचित्र्य का प्रादुर्भाव होता है। संगीत छंद के दो भेद 'सम' एवं 'विषम' हैं, उन्हीं लयों से खेलकर गायक श्रोताओं को चमत्कृत कर देता है। तथा संगीत छंद में भी विचित्रता पैदा कर देता है।⁴⁵

वैदिक छंद और भारतीय ताल—छंद :

संगीत में प्रमुख तीन शक्तियां हैं— स्वर शक्ति, लय—ताल शक्ति और शब्द शक्ति। ये तीनों शक्तियां मिलकर ईश्वर से साक्षात्कार करा सकती है। इसलिये स्वर को ईश्वर, शब्द को ब्रह्म और लय—ताल को 'शिवा' कहा गया है। ये तीनों ही शक्तियां हमारे वेद—मंत्रों में स्थित हैं। जिनका ज्ञान वैदिक छंदों के माध्यम से किया जा सकता है। वैदिक छंदों में संगीत के सप्त स्वर

और सप्तताल निहित है। जिन पर समस्त विश्व का संगीत निर्भर है। ताल-छंद हमारे संगीत के प्राण है।

सामवेद के मंत्रों का सस्वर पाठ किये जाने की बात को सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। सामगान उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित स्वरों के अनुरूप किया जाता था। सप्त स्वरों में ये तीन स्वर कौन-2 से थे इस संबंध में संगीत विद्वान् एक मत नहीं है। पं० अहोबल ने सप्त स्वरों के साथ वैदिक-छंदों का उल्लेख किया है, उससे सिद्ध होता है कि 'साम-गान' में सप्त स्वरों का प्रयोग किया जाता था, क्योंकि प्राचीन एवं आधुनिक संगीत विद्वानों के मतानुसार वाईस श्रुतियों की विभिन्न दूरियों पर स्थापित स्वरों के तीन स्वरूप ही प्रकट होते हैं। साम-गान के मंत्र छंदबद्ध गाये जाते थे। छंदों का संबंध मात्राओं से होता है। और विभिन्न मात्राओं के समूह द्वारा विविध प्रकार के तालों की रचना की जाती है। संगीत कला की प्रत्येक धुन किसी-न-किसी ताल से संबंधित होने से उसे ताल-छंद (ताल या ठेका) कहते हैं।⁴⁶

चतुश्चतुश्चतुश्चैव षड्जमध्यमपंचमा ।

द्वै-द्वै निषाद गांधारों त्रिस्त्रिऋषभ धैवतौ ।।

(संगीत दर्पण)

अर्थात्- सा, म, प की चार-चार श्रुति; रे, ध की तीन-2 श्रुति और ग, नि की दो-दो श्रुति के स्वर हैं। जैसे-

स्वर : सा रे ग म प ध नि

श्रुति : 4 3 2 4 4 3 2 = 22

संभव है इन्हीं तीन प्रकार की दूरियों को उदात्तादि स्वर नाम दिए गए हैं। संगीत विद्वानों ने सप्त-स्वरों की स्थापना वीणा के तार की लंबाई को आधार मान कर की। पं० श्री निवास ने 36'' के तार को सा स्वर माना। वैदिक छंदों के 36 मात्रा का बृहती छंद है तो मध्यम का स्वर-बोध कराता है। पाश्चात्य संगीत विद्वानों ने वैज्ञानिक आधार पर दशक प्रणाली का उपयोग किया। उन्होंने (36X10) 360 कम्पन संख्या पंचम स्वर की मानी है।⁴⁷

सप्तस्वर और सप्त ताल-छंदों में निहित दिव्य एवं आध्यात्मिक ऊर्जा ही भारतीय संगीत के मूलधार हैं। ऐसे संगीत का प्रभाव चेतन एवं अचेतन सभी पदार्थों पर दीर्घकाल तक बना रहता है। भारतीय संगीत का मुख्य लक्ष्य है आध्यात्मिक विकास, आध्यात्मिक उपलब्धि।

भारतीय संगीत के वैज्ञानिक अनुसंधान के लिए वैदिक एवं वैदिकोत्तर साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता है। एक ओर पुरुष और स्त्री राग-रागनियाँ उनके पुत्र, पुत्र-बधुओं एवं स्वरों के ऋषि, देवता, छंद, जाति, वस्त्र, शस्त्र, वाहन आदि के साकार रूप से संबंधित उत्तरोत्तर अपना प्रभाव स्थापित करता रहा है।

प्राचीन संगीत साहित्य से वर्तमान के संगीतज्ञ काफी दूर हो चुके हैं। वे राग को गाने-बजाने के समक्ष 'सिद्धांत' को भी निरर्थक समझते हैं। पता नहीं, आज के विद्वान् संगीतज्ञ शास्त्रीय संगीत को किस ढांचे में ढालना चाहते हैं? वे यह भूल जाते हैं कि शास्त्र और सिद्धांत के बिना कला अधूरी है।

'संगीत पारिजात' ग्रंथ के एक श्लोक में सप्त-स्वरों का संबंध वैदिक-छंदों से होने का उल्लेख है-

अथानुष्टुप च गायत्री त्रिष्टुप च बृहती तथा ।
पंक्तिरुष्णिक जगत्यो च छन्दान्स्याहु स्वरोत्पिति ॥

छन्दों की मात्राएँ एवं विभाग

क्र०सं०	छंद का नाम	मात्राएँ	विभाग	विद्वानों के मतानुसार स्वर
1	अनुष्टुप	32	8 / 8 / 8 / 8	सा
2	गायत्री	24	8 / 8 / 8	रे
3	त्रिष्टुप	44	11 / 11 / 11 / 11	ग
4	बृहती	36	8 / 8 / 12 / 8	म
5	पंक्ति	40	8 / 8 / 8 / 12	प
6	उष्णिक	28	8 / 8 / 12	ध
7	जगती	48	12 / 12 / 12 / 12	नि

उपर्युक्त तालिका द्वारा यह प्रत्यक्ष जानकारी नहीं मिलती है कि स्वरों का संबंध छंदों से है। इसको स्पष्ट करने के लिए प्रत्येक छंद की मात्राओं को दो भागों में विभाजित करना होगा। जैसे अनुष्टुप छंद 32 मात्राओं का है। इन मात्राओं को दो भागों में विभाजित करने पर प्रथम भाग में 3 का अंक और द्वितीय भाग में 2 का अंक रखेंगे। इसी प्रकार प्रत्येक छंद की मात्राओं को दो भागों में विभाजित करेंगे।

प्रथम विभाग

छंद अनुष्टुप गायत्री त्रिष्टुप बृहती पंक्ति उष्णिक जगती –

मात्रा 3 2 4 3 4 2 4 = 22
स्वर सा रे ग म प ध नी

उपर्युक्त स्वर-सप्तक 'मध्यम-ग्राम' है। 22 मात्राएँ बाईस श्रुतियाँ हैं। चार, तीन, दो की संख्या स्वरों के श्रुत्यांतर है।

द्वितीय विभाग

छंद-अनुष्टुप गायत्री त्रिष्टुप बृहती पंक्ति उष्णिक जगती

मात्राएँ – 2 + 4 + 4 + 6 + 0 + 8 + 8 = 32

संगीतज्ञ ताल लिपि को दर्शाने के लिए शून्य का प्रयोग खाली के लिये करते हैं। 'सम' के लिए + चिह्न का प्रयोग किया जाता है।

इस चिह्न में खड़ी रेखा शिव और आड़ी रेखा शिवा है। इन दोनों चिह्नों का संगीत कला में विशिष्ट महत्व है। शून्य चिह्न आकाश का प्रतीक है और + योग चिह्न स्वस्तिक है। यह चिह्न कल्याणकारी, शुभ एवं मांगलिक माना गया है। स्वर-संकेत (चिह्न) इनसे पृथक है।

शून्य का सम्बंध पंक्ति-छंद से है। उक्त छंद की मात्राएँ 40 (चालीस) हैं, जो आठ, आठ मात्राओं के पाँच विभागों में विभाजित है। जैसे— 8 | 8 | 8 | 8 | 8 = 40। चालीस में चार का अर्थ है, चार दिशाएँ को दर्शाने के लिए स्वास्तिक अर्थात् "सम" का चिह्न है। जैसे—

उत्तर
पश्चिम + पूरब
दक्षिण

इसी चिह्न को आधार मान कर त्रिताल की ताली और खाली निम्न प्रकार दर्शायी जाती है—

उत्तर पहली मात्रा सम +, पूरब दूसरी ताली, दक्षिण खाली, शून्य का चिह्न और पश्चिमी तीसरी ताली। स्वस्तिक स्वरूप त्रिताल का सर्वाधिक महत्व इसलिए है कि यह ताल शुभ, मांगलिक, सोलह मात्राएँ, सोलह कलाओं से युक्त है।

पंक्ति-छंद के पाँच भाग पंच-तत्व है। आठ की संख्या का अर्थ है, योग के आठ अंग— यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। ताल-साधक भी योगी होता है, यदि वह ताल के महत्व को जानता हो।

वैदिक छंदों में भारतीय ताल-छंदों के स्वरूप को प्रकट करने वाला पंक्ति छंद है इस छंद के आगे दो छंद और पूर्व में चार छंद हैं। इस क्रम से सातों छंदों द्वारा सात मात्राओं के रूपक ताल का बोध होता है। इस छंद के पूर्व के चारों छंदों की मात्राओं का योग 16 और बाद के दो छंदों की मात्राओं का योग 16 हैं।

पंक्ति छंद के पूर्व भाग के छंदों की मात्राएँ— $2 + 4 + 4 + 6 = 16$ । द्वितीय भाग की मात्राएँ— $8 + 8 = 16$ ।

प्रथम भाग की चार मात्राएँ कहरवा ताल और छह मात्राएँ दादरा ताल की हैं, जिनका प्रयोग बहुलता से संगीत जगत में किया जाता है। हमारे यहाँ इन तालों का प्रयोग बहुधा लोक संगीत तथा सुगम संगीत के साथ किया जाता है।

द्वितीय विभाग की आठ मात्राएँ विलंबित, कहरवा, धुमाली एवं आदित्य-ताल दर्शाने के लिए उपयोगी मानी गई है। आदित्य ताल को शास्त्रीयसंगीतोपयोगी माना गया है। कथक नृत्य के तत्कार आदित्य-तालानुरूप है।

सात मात्राओं का 'रूपक-ताल-छंद' भारतीय ताल छंदों का जनक है। जिस प्रकार संगीत में मूर्च्छना एवं थाट का महत्व है, उसी प्रकार ताल में 'रूपक' का महत्व है। थाट किसी न किसी राग पर होता है, उसी प्रकार ताल छंदों का जनक (रूपक) भी ताल-छंद के नाम पर है।

ताल छंद रूपक द्वारा ताल-छंदों की उत्पत्ति

क्र०सं०	वैदिक छंद	मात्रा भाग—दो	शुद्ध ताल छंद
1	अनुष्टुप छंद	2	लय दर्शक
2	गायत्री छंद	4	कहरवा
3	त्रिष्टुप छंद	4	कहरवा
4	बृहती छंद	6	दादरा
5	पंक्ति छंद	0	x
6	उष्णिक छंद	8	विलम्बित कहरवा, धुमाली
7	जगती छंद	8	विलम्बित कहरवा, आदित्य ताल

दो छंद—मिश्रित ताल छंद

1. अनुष्टुप, उष्णिक $2 + 8 = 10$ झपताल, सूलताल
2. गायत्री, उष्णिक $4 + 8 = 12$ चारताल, एकताल
3. बृहती, उष्णिक $6 + 8 = 14$ दीपचन्दी, धमार, आड़ा चौताल, झूमरा, फरोदस्त

उपर्युक्त मात्राओं के ताल—छंद ही भारतीय—ताल—छंदों में महत्वपूर्ण है। इनका सम्बन्ध वैदिक छंदों से है। इन छंदों के अतिरिक्त भी भारतीय ताल—छंदों का प्रचार है, जिनकी उत्पत्ति भी वैदिक—छंदों से ही हुई है। ऐसे छंदों का आधार वैदिक छंदों के तीन व चार छंदों का मिश्रित रूप है, जो उप ताल—छंदों की श्रेणी में आते हैं।

दक्षिण भारत के ताल—छंदों की संख्या भी सात है। उन छंदों की मात्राएँ उत्तर भारतीय ताल—छंदों के समान ही हैं। किन्तु खण्ड—विभाजन के कारण वे एक दूसरे से भिन्न हैं।

वीणा के तार एवं कम्पन—संख्या

स्वर—नाम

स रे ग म प ध नि सं

तार की लंबाई

36 32 30 27 24 $21\frac{1}{3}$ 20 18

कम्पन संख्या

240 270 300 320 360 405 450 480⁴⁸

छन्द की परिभाषा


“छंद की विविध परिभाषाओं, छन्द और लय का संबंध, गद्य और पद्य में भेद तथा छंद का वाद्य, गान और ताल के साथ संबंध— इन सब पर विचार करने के बाद यह कहा जा सकता है कि छंद न केवल पद्य में है, न केवल लघु—गुरु क्रम में है, न केवल अक्षर संख्या है, और न









केवल मात्रा संख्या, वह न सार्थक पद में ही है और न निरर्थक में है। वह ध्वनि मात्र में व्याप्त रहने वाला अत्यंत सूक्ष्म तत्व है। जिसका स्थूल प्रत्यक्ष नहीं होता बल्कि जो अनुभूति गम्य है इसलिये छंद की परिभाषा यह दी जा सकती है।

‘सार्थक निरर्थक पद अथवा ध्वनि मात्र की रचना के भीतर रहने वाला वह आनन्द दायक तत्व छंद है। जिसकी अनुभूति उस रचना के नियत वर्णक्रम, अक्षर संख्या अथवा मात्रा संख्या के अनुसार बनने वाले नियत आकार में अनुस्यूत विशिष्ट लय के आधार पर होती है।’

लेकिन आनंद की अनुभूति किसी माध्यम के द्वारा ही होती है और उस माध्यम को भी उपचार से आनन्द दायक कहा जाता है। उसी प्रकार साहित्य अथवा संगीत में आनंद की अनुभूति कराने वाले लघुगुरु क्रम, अक्षर संख्या अथवा मात्रा संख्या रूप स्थूल आकार को भी छन्द कहा जाता है।⁴⁹

छंद का निर्माण किसने किया इस बावत् बहुत मतभेद है। श्री सीताराम चतुर्वेदी के “अभिनव नाट्य शास्त्र” में वे लिखते हैं, “इससे प्रायः यही माना जाता है कि लौकिक छंदों का आविष्कार महर्षि वाल्मीकि ने ही किया”। आगे कहते हैं, किन्तु वाल्मीकि रामायण के आधुनिक ‘टीकाकार’ श्री रामानुज यह नहीं मानते। उनका कहना है कि वाल्मीकि से पहले भी लौकिक छंदों का प्रयोग हुआ करता था परंतु यदि हम वेद को ही सर्वप्राचीन ग्रंथ मान लें तो हमें यह समझने में कोई आपत्ति नहीं होगी कि छंद का महत्व लोगों ने बहुत पहले समझ लिया और वैदिक ऋषियों ने उसी रूप में मंत्रों के दर्शन भी कर लिये थे। “तालशास्त्र” और “लयशास्त्र” की उत्पत्ति “छंद शास्त्र” से हुई होगी, क्योंकि कविता काव्य, श्लोक की रचना के लिये छंद का ज्ञान आवश्यक है। अर्थात् छंद के ज्ञान का उपयोग करके कविता बनाकर उसको गाना होता है। गाने के लिये स्वर ज्ञान तथा ताल ज्ञान दोनों होने चाहिये।⁵⁰

“छंद की पाश्चात्य परिभाषा के अनुसार भी छंद का मुख्य लक्ष्य लय ही है। अंग्रेजी कविता में छंद की रचना आधारयुक्त (Accented या Stressed) अथवा आधार रहित (Unaccented या unstressed) अक्षरों के क्रम के आधार पर होती है। जो ह्रास्व (Short= ) और दीर्घ (long= -) अक्षरों (Syllabus) से बनते हैं। मुख्य दो ही क्रम हैं।

— और —  । इसके मेल से 4 मुख्य छंद बनते हैं। जो iambic () , (trochaic) (- ) , anapaestic(  -) dactylic (-  ) कहलाते हैं। अंग्रेजी भाषा का स्वरूप और उच्चारण शैली ऐसी है। कि उसमें मात्रा—संख्या, अक्षर संख्या या वर्णक्रम के आधार पर छन्द रचना संभव नहीं है।⁵¹

गान और छंद—

गान से तात्पर्य ऐसे कंठ संगीत से है। जिसमें सार्थक पद न हो— जैसे—‘अनिवार्य’ अथवा ‘रागालप्ति’। सार्थक पदयुक्त गान के गेयांश में छंद की स्पष्ट अनुभूति कठिन है। क्योंकि सार्थक पद होने के कारण छंद का उसके साथ पहले सहचार हो जाता है लेकिन ‘सरगम’ (स्वरों के वाचक अक्षर स, रे, ग आदि का प्रयोग करके राग विस्तार) करते समय छंद की अनुभूति सहज

रूप से आवश्यक होती है। सरगम में विभिन्न छंदों के प्रयोग का आज विशेष प्रचार नहीं है। इसका मुख्य कारण यह है कि स्वयं शिक्षक छंद ज्ञान से शून्य होते हैं। इसलिये वे उचित मार्गदर्शन की नहीं कर सकते। लेकिन शुरू से ही विद्यार्थियों को इस प्रकार का अभ्यास कराया जाये तो वे छंदों का प्रयोग बड़ी आसानी से कर सकते हैं। उदाहरण के लिये राग वागेश्री में कुछ छंदों पर आधारित सरगमों के कुछ प्रकारों का वर्णन किया जा रहा है। स्वर लिपि में तार स्वरों के ऊपर और मन्द्र स्वरों के नीचे बिन्दु का और विकृत स्वरों के नीचे आड़ी रेखा का प्रयोग किया गया है।

ह्रस्व अक्षर। मात्रा के बराबर और दीर्घ अक्षर 2 मात्रा के बराबर है। लघु-गुरु के चिन्ह केवल एक-2 अंश पर लगाये हैं। बागेश्री राग में 'ग' और 'नि' कोमल होते हैं। इनके लिये यहां चिन्ह नहीं लगाये जा रहे हैं।

1. प्रमाणिका अथवा मत्तचेष्टित- 8 अक्षर , ज ल र ग (|S |S |S |S)

| S | S | S | S
 नि सा स गा ग मा म धा , गमा मधा धनी निसां , रिसां सनी निधा
 धमा , निधा धमा मगा गरी , धमा मगा गरी रिसा

2. समानिका- 8 अक्षर, र ज ग ल (S| S| S| S|)

S | S | S | S |
 री स मा ग धा म नी ध , धाम नीध सांनि रीसं , सांनि नीध धाम माग ,
 धाम माग गारि रीस

3. सुमालती- 8 अक्षर , न र ल ग (||| S|S |S)

| | | S | S | S
 स स स मा ग मा ग मा , रिरिरि धामधा मधा , गगग नीधनी धनी ममम
 सांनिसां निसां

4. चपला- 7 अक्षर , न न ग (||| ||| S)

| | | | | | S
 रि स स म म ग म , धमम निधध नी , निधध सनिनि सां

5. तौटक- 12 अक्षर , सससस (||S ||S ||S ||S)

| | S | | S | | S | | S
 नि नि री स स मा ग ग धा म म धा , रिरिम गगधा ममनी धधनी ,

6. भुजंग प्रयात- 12 अक्षर , यययय (|SS |SS |SS |SS)

| S S | S S | S S | S S
 स गा री रि मा गा ग धा मा म नी धा , रिमागा गधामा मनीधा धसांनी , गधामा
 मनीधा धसांनी निरीसा⁵²

इसी प्रकार अनेक छंद बनाये जा सकते हैं। लेकिन यह ध्यान रखना चाहिये कि छंद में शब्दों के उच्चारण में बल-अबल, और ध्वनि का उतार-चढ़ाव जैसा भी हो वैसा ही बल-अबल

और उतार-चढ़ाव सरगम में भी रहना चाहिये अन्यथा लघुगुरु के खण्डों के अनुसार स्वर संचार बना देने मात्र से छंद की सजीवता और प्राणप्रतिष्ठा सरगम में नहीं हो सकेगी।

वाद्य और छंद—

संगीत रत्नाकर में गद्य प्रबंध में गद्य का लक्षण ही 'छन्दोहीनं पदकदम्बकम्' है। यद्यपि बाद में गद्य को छन्द अवश्य कहा गया लेकिन उसमें जब तक अक्षरसंख्या का और यति का नियम न हो तो वह छन्द की उस श्रेणी में नहीं आ सकता जिसमें पद्य है क्योंकि इस प्रकार के गद्य में कोई नियमित प्रवाह या लय नहीं होती। गद्य और पद्य में लगभग वही अन्तर है तो सामान्य बोलचाल और संगीत में है। लेकिन उसे संगीत नहीं कह सकते। उन्हें स्वरों में नियमितता और लयबद्धता आ जाने पर संगीत कहलाता है।

संसार में अनेक प्रकार रचनाएँ हैं। उनमें छंद-ध्वनि रचना है। ध्वनि रचना संगीत में भी होती है, पर वाद्य-यंत्रों की मोहक रचना छंद नहीं है। छन्द के लिये आवश्यक है कि उसकी ध्वनि मनुष्य की वाणी से निर्मित हो। मनुष्य की वाणी में जो कलात्मक रचना की जाती है, उसे ही छन्द माना जा सकता है।

वैदिक छंदों में निहित है सप्त स्वर

ब्राह्मण में स्थित समस्त नक्षत्रों का संचालन छंदबद्ध है। पृथ्वी चौबीस धंटों में अपनी धुरी पर एक चक्कर लगाती है। यह 24 मात्राओं का छंद है तथा 365 मात्राओं का छंद है। पृथ्वी का धेरा 24 हजार मील के लगभग है और उसका व्यास आठ हजार मील है। सूर्य का धेरा 27 लाख मील है। वृहस्पति 48 करोड़ 30 लाख की दूरी पर है, जो 11 वर्ष 9 माह में सूर्य के चारों ओर एक चक्कर लगाता है। इसी प्रकार अन्य नक्षत्रों की सूर्य की दूरी और चक्करों के विषय में ज्योतिष-शास्त्र के माध्यम से विद्वानों ने ज्ञात कर ग्रंथों में उल्लेख किया है।

साहित्य संबंधी छंदों का आधार 'वेद' है। यजुर्वेद को छोड़कर शेष तीनों वेदों की ऋचाएं छंदबद्ध हैं, जिन्हें मुख्यतः सात छंदों में प्रयुक्त किया गया है। उन छंदों के नाम हैं— अनुष्टुप, गायत्री, वृहति, पंक्ति, उष्टिक, त्रिष्टुप और जगती।

'कात्यायन' ने छंद के विषय में लिखा है— 'अक्षर परिमाणंतच्छंद' अर्थात् जिसमें अक्षरों के परिमाण (संख्या) में वर्णों की सत्ता निहित हो उसे छंद कहते हैं।

संगीत कला की तीनों विधाएँ (गायन, वादन, नर्तन) छंदबद्ध हैं। संगीत के सप्त स्वर— स रे ग म प ध नी हिन्दी वर्णमालानुसार वर्ण हैं। साहित्यकारों के स्वर 'अ आ इ ई' आदि 16 स्वर हैं।

स्वयं राजन्त इति स्वरः।

अर्थात्— जो बिना किसी की सहायता से उच्चारित और स्वयं प्रकाशमान होते हैं, उन्हें स्वर कहते हैं।

स्वर वेदाश्च शास्त्राणि स्वरे गान्धर्वमुत्तमम्।

स्वरे च सर्व त्रलोभ्यं स्वरमात्मस्वरूपकम्॥

अर्थात् स्वर में ही वेद, स्वर में ही शास्त्र और स्वर में ही श्रेष्ठ गांधर्व विधा (संगीत) है। तथा स्वर में ही ये संपूर्ण तीनों लोक बसे हुए हैं। और स्वर ही आत्मा स्वरूप परमात्मा है।

छन्दल्लय का दार्शनिक आधार

ब्रह्मा से जो सर्जनात्मक शक्ति बाहर की ओर जाती है और पुनः बाहर से उसकी ओर लौट आती है, वह एक लय से चलती है, इसी लय का नाम वेदों में छंद है। शक्ति के लय अर्थात् छंद से विश्व का विवर्त हुआ है। भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय में लिखा है 'छन्दः प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तत'। अर्थात् यह विश्व छंदों का विवर्त है। वाचिक छंद इन्हीं छन्दों के अनुकरण मात्र है।⁵³

काव्य में छंद का महत्व

- छंद से हृदय को सौंदर्यबोध होता है।
- छंद मानवीय भावनाओं को झंकृत करते हैं।
- छंद में स्थायित्व होता है।
- छंद सरस होने के कारण मन को भाते हैं।
- छंद के निश्चित आधार पर आधारित होने के कारण वे सुगमतापूर्वक कण्ठस्त हो जाते हैं।⁵⁴

काव्य में जो स्थान छंद का है वही स्थान संगीत में ताल को दिया जाता है क्योंकि छंद और ताल दोनों मापक, प्रतिष्ठापक वर्ण पर और ताल हाथ अथवा वाद्य की क्रियाओं पर अवलम्बित कहा जा सकता है। दोनों का अति निकट का सम्बन्ध है लेकिन ये दोनों समान स्तर पर नहीं हैं। क्योंकि मूलतः छन्द अक्षर में या संगीत की क्रिया अनुस्यूत होकर रहता है उससे अलग नहीं जैसे काव्य में छन्द शब्द रचना में ही रहता है उससे अलग उसकी सत्ता नहीं होती।

काव्य में छन्द के अनुसार क्रियाएँ की जायें तो वह ताल बन जायेगा और संगीत में क्रिया न हो, केवल लघु-गुरु क्रम हो तो छन्द बन जायेगा। इसीलिए गेय सम्बन्धी ताल रहित लघु-गुरु क्रमों के विशिष्ट सन्निवेशों को भरत ने ध्रुवा (गेयवृत्त) कहा है।

सारांश यह कहा जा सकता है कि काव्य और संगीत तथा छन्द और ताल का घनिष्ठ संबंध है, छन्द के स्थूल और सूक्ष्म दोनों रूप हैं, सार्थक अथवा निरर्थक किसी भी प्रकार की पद रचना में अथवा ध्वनि रचना में भी रह सकता है। विशिष्ट छंदों की अभिव्यक्ति विशिष्ट तालों या बोलों की रचना में हो सकती है और विशेष तालों के साथ विशेष छन्दों का सम्बन्ध जोड़ना भी संभव है।⁵⁵

संदर्भित ग्रंथ

1. डॉ. प्रेमलता "आधुनिक हिन्दी नाटक और भाषा की सृजनशीलता" लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, पृष्ठ सं.-28
2. शर्मा डॉ. मनोरमा 2012 "संगीत विविधा" अभिषेक पब्लिकेशन चण्डीगढ़, पृष्ठ सं.-107-108
3. चातक गोविन्द "आधुनिक हिन्दी नाटक भाषिक और संवादीय संरचना" तक्षशिला प्रकाशन नईदिल्ली, पृष्ठ सं.-15
4. जैन नैमीचन्द्र, हिन्दी नाटक की भाषा- नटरंग अंक 65, पृष्ठ सं.-6
5. नाट्यशास्त्र, 17-42

6. चतुर्वेदी डॉ. नीहारिका (2005) "नाट्यशास्त्र का वैदिक आधार" नाग पब्लिशर्स दिल्ली, पृष्ठ सं. -68-69
7. सिंह, डॉ. नीलम "संस्कृत रूपकों के प्रमुख नाट्यशिल्प" राजस्थानी ग्रन्थगार जोधपुर, पृष्ठ सं. -80
8. अभिज्ञान शाकुन्तल: कालिदास, पृष्ठ सं.-614
9. मधुमति: मार्च 2007, पृष्ठ सं.-36-37
10. द्विवेदी, कपिल देव (2001) "भाषा विज्ञान और भाषा शास्त्र" विश्वविद्यालय प्रकाशन, पृष्ठ सं. -46
11. चतुर्वेदी आचार्य सीताराम, अभिनव नाट्यशास्त्र, पृष्ठ सं.-417
12. बौरा राजमल एवं शर्मा नारायण (1993) "हिन्दी नाटक और रंगमंच" वाणी प्रकाशन, पृष्ठ सं. -56
13. मधुमति: मार्च 2007, पृष्ठ सं.-38
14. मलिक, शांति "नाट्य सिद्धांत विवेचन" पृष्ठ सं.-72-73
15. चातक, गोविन्द (2003) "आधुनिक हिन्दी नाटक का अग्रदूत मोहन राकेश" राधाकृष्ण प्रकाशन, पृष्ठ सं.-155,158
16. अख्तर डॉ. परवीन (2007) "समकालीन हिन्दी नाट्य परिदृश्य" विकास प्रकाशन कानपुर, पृष्ठ सं.-140
17. नाट्यम अंक 66 जुलाई-सितम्बर 2010, पृष्ठ सं.-10
18. दीक्षित, सुरेन्द्र नाथ (1976) "भरत और भारतीय नाट्यकला" राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ सं.-288
19. शुक्ला डॉ. धीरेन्द्र (2009) "हिन्दी नाटक और रंगमंच" नेशनल पब्लिशिंग हाउस जयपुर, पृष्ठ सं.-155
20. संस्कृत हिन्दी कोष, पृष्ठ सं.-1048
21. अख्तर डॉ. परवीन (2007) "समकालीन हिन्दी नाट्य परिदृश्य" विकास प्रकाशन कानपुर, पृष्ठ सं.-148,160

22. लाल, डॉ. लक्ष्मी नारायण (1973) "पारसी-हिन्दी रंगमंच" राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली, पृष्ठ सं. -96
23. वही, पृष्ठ सं.-52
24. डॉ. नगेन्द्र (1986) "अरस्तु का काव्यशास्त्र" अनुशंधान परिषद, पृष्ठ सं.-52
25. सहल श्रद्धेय गुरुवर कन्हैया लाल जी "भरत और अरस्तु के नाट्य तत्वों की तुलना" पृष्ठ सं. -90
26. शर्मा, डॉ. स्वतंत्र (2010) "भारतीय संगीत: वैज्ञानिक विश्लेषण" अभिनव पब्लिशिंग हाउस नईदिल्ली, पृष्ठ सं.-256
27. डॉ. शबनम (2000) "भारतीय संगीत में अलंकार" संजय प्रकाशन दिल्ली, पृष्ठ सं.-6
28. शर्मा, प्रो. स्वतंत्र (2010) "सौन्दर्य, रस एवं संगीत" अभिनव पब्लिशिंग हाउस इलाहाबाद, पृष्ठ सं.-181
29. पाण्डे, डॉ. सुधौंशु "ताल प्राण" सांस्कृतिक दर्पण लखनऊ, पृष्ठ सं.-251-252
30. श्री मतंग मुनिकृत बृहद्देशी, मूल पाठ हिन्दी अनुवाद, डॉ. डी.वी. क्षीरसागर, पब्लिकेशन स्कीम जयपुर,, पृष्ठ सं.-67
31. शर्मा, प्रो. स्वतंत्र (2010) "सौन्दर्य, रस एवं संगीत" अभिनव पब्लिशिंग हाउस इलाहाबाद, पृष्ठ सं.-182-183
32. मिश्र, पंडित विजयशंकर (2009) "भारतीय संगीत के नए आयाम" कनिष्क पब्लिशर्स नईदिल्ली, पृष्ठ सं.-89,94
33. Bandopadhaya, Sripad 1985 "संगीत भाष्य", B.R.P.C Delhi, पृष्ठ सं.-16
34. संगीत पत्रिका जुलाई-1990, पृष्ठ सं.-30
35. कौर, डॉ० भगवन्त (2010) "परम्परागत हिन्दुस्तानी सौद्धांतिक संगीत" कनिष्का पब्लिशर्स नईदिल्ली, पृष्ठ सं.-64-65

36. गुप्ता, निशी (2010) "ताल शास्त्र का सौद्धांतिक पक्ष" कनिष्क पब्लिशर्स नईदिल्ली, पृष्ठ सं. -122
37. जौहरी, डॉ. सीमा "संगीत सोपान" राजस्थानी साहित्य संस्थान जोधपुर, पृष्ठ सं.-15
38. डॉ. शबनम (2000) "भारतीय संगीत में अलंकार" संजय प्रकाशन दिल्ली, पृष्ठ सं.-258-259
39. <http://wikipedia.org/wiki/छंद>
40. चौधरी, डॉ० सुभद्रा "भारतीय संगीत में ताल और रूप-विधान" राधा पब्लिकेशन नईदिल्ली, पृष्ठ सं.-323,325
41. शर्मा, डॉ. उर्मिला (2002) "प्रेम रसायन एवं संगीत मीमांसा" राधा पब्लिकेशन, पृष्ठ सं.-100
42. संगीत पत्रिका, सितम्बर 1990, पृष्ठ सं.-31
43. शर्मा, डॉ. स्वतंत्र (2010) "भारतीय संगीत: वैज्ञानिक विश्लेषण" अभिनव पब्लिशिंग हाउस नईदिल्ली, पृष्ठ सं.-246,248
44. कौर, डॉ० भगवन्त "परम्परागत हिन्दुस्तानी सौद्धांतिक संगीत" कनिष्का पब्लिशर्स नईदिल्ली, पृष्ठ सं.-67
45. संगीत पत्रिका, मार्च 1993, पृष्ठ सं.-19,22
46. नादारचन, पृष्ठ सं.-18
47. संगीत पत्रिका, अक्टूबर 1996, पृष्ठ सं.-21,23
48. संगीत पत्रिका, अगस्त 1992, पृष्ठ सं.-22
- 49 चौधरी, डॉ० सुभद्रा "भारतीय संगीत में ताल और रूप-विधान" राधा पब्लिकेशन नईदिल्ली, पृष्ठ सं.-326-327
50. छायाण्ट अंक 79, अक्टूबर-दिसम्बर 1996, पृष्ठ सं.-31
- संगीत पत्रिका जुलाई-1996, पृष्ठ सं.-21,23

51. चौधरी, डॉ० सुभद्रा (2004) “भारतीय संगीत में निबद्ध” राधा पब्लिकेशन नईदिल्ली, पृष्ठ सं. –309
52. चौधरी, डॉ० सुभद्रा “भारतीय संगीत में ताल और रूप-विधान” राधा पब्लिकेशन नईदिल्ली, पृष्ठ सं.–320–321
53. सिंह, डॉ. ठाकुर जयदेव (2010) “भारतीय संगीत का इतिहास” विश्वविद्यालय प्रकाशन, पृष्ठ सं.–68
54. <http://wikipedia.org/wiki/छंद>
55. चौधरी, सुभद्रा “संगीत संचयन” कृष्णा ब्रदर्स अजमेर, पृष्ठ सं.–88,91

